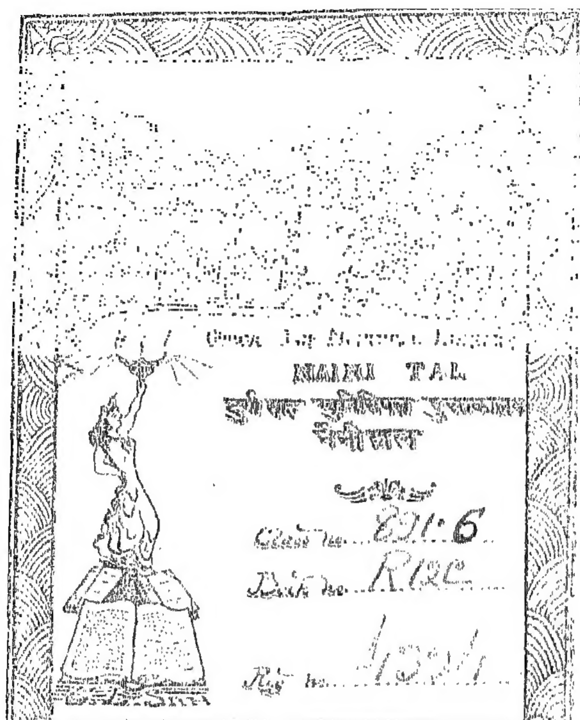
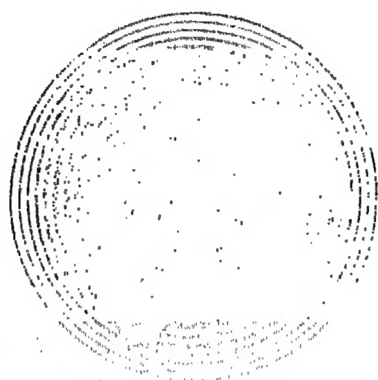

NAINI TAL
Class No. 891.6
Book No. R12C





मूल्य साढ़े तीन रुपया

तीन रुपया पचास नये पैसे

प्रकाशक—



द्वितीय संस्करण, '५८

मुद्रक—
लक्ष्मीचन्द
राष्ट्रभाषा मुद्रणालय, लहरतारा-४

१

बन्दोरा समुद्रतट
२० अक्टूबर १८८५

प्रबल वर्षा आरम्भ हो गई है। एक सप्ताह से लगातार झड़ी लगी ही रहती है। अभी थमने का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ता। अपने बरामदे में मैं काँच की सभी खिड़कियों को बन्द कर चुपचाप बैठा हुआ हूँ। कोई बहुत बुरा नहीं लग रहा है, अपने में ही अच्छी तरह आच्छन्न होकर पड़ा हुआ हूँ—किसी तरह के भावावेश की प्रबलता नहीं है। आँधी-पानी जो कुछ भी है, सब बाहर है। आकाश धुला [illegible] समुद्र, फेनमय होकर सफेद होता जा रहा है। समुद्र को देखकर ऐसा मालूम होता है कि कोई बहुत बड़ी [illegible] बन्धन में पड़कर उछल-कूद मचा रही है और [illegible] जिस से किनारे खड़े हैं। समुद्र के [illegible] में हम लोग घर-द्वार तैयार कर बैठे हुए हैं। हमलोग मानो सिन्धु का [illegible] पकड़कर [illegible] हैं, [illegible] कुछ भी नहीं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

में लड़ाई चल रही है। जमीन धीरे-धीरे चुपचाप एक-एक कदम उठाकर अपना अधिकार बढ़ाती जा रही है, अपनी सन्तानों को धीरे-धीरे आगे बढ़ाती जा रही है और परास्त समुद्र पीछे हटता हुआ केवल फुसफुसाता हुआ, छाती पर हाथ पटक कर बेहाल हो रहा है। याद रखिये किसी समय समुद्र का एकाधिपत्य था—उस समय वह सम्पूर्ण मुक्त था। उसके ही गर्भ से पैदा होकर भूमि ने उसका सिंहासन छीन लिया है; उन्मत्त वृद्ध समुद्र अपने सफेद फेनों को लिये हुए, किङ्ग लियर की तरह आँधी-पानी में, मुक्त आकाश में केवल विलाप कर रहा है।

●

२

शोलापुर
अक्टूबर १८८५

आप तो हैं सब-डिप्टीसाहब—मानो बाढ़ में पड़कर बङ्गदेश में इधर-उधर बह रहे हैं। हमलोग कलकत्ता जा रहे हैं यह खबर क्या आपको मालूम है। इस चिट्ठी के साथ ही हमलोग शुक्रवार को सबेरे की डाक से कलकत्ते पहुँच जायँगे। हमने प्रवास की यह यात्रा समाप्त कर दी है। यहाँ के असीम आकाश, खुली हवा, विस्तृत मैदान, विमल शान्ति, इन सबको पीछे छोड़कर—उस बाँसतले की गली, जोड़ा साँको का मोड़, पुरानी बग्गियों का अस्तबल, धूल धुआँ,.. वह गड़गड़ाहट, मक्खियों की भनभनाहट, हलवाइयों की दूकान, उस घोरतर गड़बड़ी के बीच, पूर्णरूप से आत्म-विसर्जन करने के लिए चल पड़ा। यहाँ तीन हजार मिलभिरों की चोटियाँ, कल कारखानों की चिमनियाँ,

जहाजों के मस्तूल, नीले आकाश में मानो खोंचा लगाने के लिए ऊपर को उठे हुए हैं। कलकत्ता ईंट-लकड़ियों के सहारे प्राकृतिक गङ्गा को पार कर गया है। इसके सिवा चहारदीवारी से घिरा नीमतल्ला घाट है जहाँ मरने पर भी मनुष्य को सुख नहीं। यहाँ हमलोग कई आदमी आपस में मिल-जुलकर अशोक-कानन की कुटिया में थे, पर वहाँ एक तरह के ईंटों के बने पिंजड़े में प्रवेश करने जा रहे हैं। वहाँ के उन लाखों-लाखों कैदियों के साथ, म्युनिसिपैलिटी के दुर्ग में कैद होने के लिया जा रहे हैं। सुनकर आप सुखी हो गये तो!

इतने दिन मैं भूला हुआ था, किन्तु आज फिर मुझे अपना वह परदा डाला हुआ घूँघट वाला कमरा, याद पड़ गया है। किन्तु कहाँ हैं आप, कहाँ है आपका वह छाता, कदमपोश, वहाँ रखे हुए वे दोनों पुराने जूते! मेरी वह हृष्टपुष्ट विरह-पीड़ित तकिया—क्या हमारी विरह व्यथा से दुबली हो गयी है, मैं यही सोच रहा हूँ। मेरी पुस्तकें शीशे के अन्तःपुर से झाँक रही हैं—किन्तु किसकी तरफ झाँक रही हैं? मेरी वह शून्य-हृदय कुर्सी, जिसने अपनी दोनों भुजाएँ बढ़ा कर खड़ी है, किन्तु अब उसके इस नीरव आह्वान की कोई परवा नहीं करता। मेरी वह घड़ी टिक-टिक कर रही है, वह किसी का विशेष आदर-सत्कार करने के फेर में नहीं रहती, वह केवल समय के पद-चिह्न का हिसाब रखने में ही व्यस्त रहती है। किन्तु मेरे उस हारमोनियम का क्या हाल है? वह अपने नीरव सङ्गीत के ऊपर ऊनी चादर ओढ़े कुछ सोच रहा है। छड़ी आफेद के ऊपर खड़ी होकर झूठमूठ ताल देकर क्यों नाच दे रही है! दीवारें ताक रही हैं—सोच रही हैं, इस कमरे का प्रधान असबाब कहाँ चला गया! कलकत्ते के उस जनसमुद्र के बीच मेरा वह निरुपमनगरवर्ती कमरा ही निपट निर्जन है। क्योंकि उस समय रेलगाड़ी के भीतर से बाहर [illegible] रहा है—[illegible]— [illegible] । [illegible] यहाँ से [illegible] रहे हैं [illegible] हूँ, मेरे

कलकत्ता लौट जाने पर क्या फिर आपके साथ मुलाकात न हो सकेगी। आप क्या इस जन्म के लिए सब डिप्टी पुर को रवाना हो गये। शीघ्र ही फिर मुक्त होने की आशा नहीं है। आईन-कानून का गल-ग्रह गले में बाँधकर क्या आपने अब सर्विस-सरोवर में एक तरह से डुबकी लगा दी। जाने दो, इस अवस्था में आपकी आशा एकदम छोड़कर हम अब आकाश में विचरण करेंगे और परस्पर यह कहेंगे कि—"अहा! श्रीशबाबू अच्छे आदमी थे।"



३

१७ अप्रैल, १८८६

सब-डिप्टी साहब,

आप गयाधाम चले गये, और मेरी न जाने कैसी अवस्था बना गये। आपका दर्शन करना मेरा नियमित कार्य सा हो गया था, अब उससे वञ्चित होकर मैं सुखरहित अफीमखोर की तरह छटपटा रहा हूँ। [illegible] पर अफीम का ही नशा डाल दिया है। आप [illegible] तरह-तरह की युक्तियों से मुझे कुछ कल्पना को [illegible] मेरी कल्पना को जगा देते थे। मेरे ही प्रभात सङ्गीत—सन्ध्या-सङ्गीत में मुझे आच्छन्न कर देते थे। मैं आँखें बन्द करके आनन्द के साथ अपने आप में ही प्रवेश करके बैठा रहता था। वहीं से नशे के झोंक में अपने हृदय के [illegible] था और आप सुनकर मन ही मन हँसते थे। अफीम का नशा इसे ही कहते हैं। अपने आप में ही डूबे रहकर अपने ही सपने में [illegible] ही अफीम का नशा कहते हैं। [illegible] है। आप प्रायः अपनी बातें नहीं कहते थे, [illegible], मेरी ही

कवित्ता, मेरे ही लेख, मेरी ही बातों में मुझे खींच ले जाते थे—जो भी हो, मुझे आप ने ही नशे में चूर कर डाला था। अंग्रेजों ने बर्मा में, चीन में अफीम पहुँचायी है, आपने मेरे उस आयल-क्लाथ मण्डित कमरे में गुप्तरूप से, छिपे तौर से अफीम का व्यवसाय पहुँचा दिया है—आप साधारण मनुष्य नहीं हैं, किन्तु एक बार अफीम खाना सिखाकर डिबिया समेत आप कहाँ अन्तर्ध्यान हो गये। मैं आराम न मिलने के कारण, इस भयङ्कर गरमी में अपने कमरे में अकेला बैठा हुआ दोनों वक्त जम्हाई और अँगड़ाई ले रहा हूँ। यदि मेरे दरवाजे के पास आप अपना वह परिचित छाता, जूता ही रख गये होते तो मुझे कुछ न कुछ सान्त्वना रहती। आपका पत्र पढ़ने से मुझे मालूम हुआ कि आप श्री गयाधाम में, प्रेतपुरी में, मनुष्याभावसे अत्यन्त कातर हैं किन्तु आपका काम, आपका साथी है, अर्थात् आप हैं और आपके चिरसाथी 'सबडिप्टी' परछाईं की तरह आपके साथ हैं। वह सङ्गी आपको अभी विशेष अच्छा नहीं लग रहा है, किन्तु क्रमशः उसपर प्रेम पैदा हो जाना कोई असम्भव नहीं है।

मेरे हाथ में इस समय कोई काम-काज नहीं है। चपकन के बटन खोलकर, शरीर ढीला करके, इस समय अपने शरीर को हवा लगने दे रहा हूँ। अफीम की उतनी जरूरत नहीं मालूम होती। तकिये में, सपना पाला पोसा गया है। वह सपने की एक बड़ी डिबिया की तरह प्रतीत हो रहा है, उसके ऊपर माथा रखने के साथ ही, सिर में बड़ी तेज गति से नशा प्रवेश कर जाता है। अब तक सिर पर 'बालक' पत्रिका का बोझ रहने के ही कारण मानो मेरा सिर दब गया था, नशा बिलकुल ही टूट गया था [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] रहा है।

ऐसे समय में, मैं चाहता हूँ आपकी उपस्थिति, साथ ही चाहता

हूँ नदी का किनारा, पेड़ों की छाया, मैदान की हवा, आमों का बौर, कोयल का कुहू-कुहू, बसन्ती रङ्ग का चादर और बकुल फूल की माला। कलकत्ता शहर है, पोलिटिकल एजिटेशन है, बसन्त ऋतु में ये तो सहे नहीं जाते। कहाँ है आपका बगीचा श्रीशबाबू और कहाँ हैं आप ! संस्कृत कवि ने कहा है—

सङ्गम विरह विकल्पे वरमपि विरहो न सङ्गमस्तस्याः।
सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे।

भावार्थ—सङ्गम और विरह इन दोनों में विरह ही अच्छा है, परन्तु उसका सङ्गम अच्छा नहीं है। क्योंकि मिलन की अवस्था में वह केवल मेरे ही पास अकेला रहता है और विरहावस्था में उसी से त्रिभुवन परिपूर्ण हो जाता है। किन्तु भट्टाचार्य जी के साथ मेरे मत का मेल नहीं हुआ। आपके विरह में मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि त्रिभुवनमय श्रीशबाबू का प्रभाव रहने की अपेक्षा, अपने हाथ के पास एक श्रीशबाबू का रहना अच्छा है। अंग्रेजी में एक कहावत है—झाड़ में कई चिड़ियों के रहने की अपेक्षा अपनी मुट्ठी में एक चिड़िया का रहना ज्यादा अच्छा है। इस सम्बन्ध में मैं एक अंग्रेज की तरह Practical view लेता हूँ। आपकी क्या राय है, यह जानने की मेरी उत्कट इच्छा है।

●

४

३० अप्रैल, १८८६

इधर कुछ दिनों के बीच मुझे मो....बाबू के घर एक दिन जाना पड़ा था ; वहाँ मैंने आप का लिखा "बंगाल का बसन्तोत्सव" शीर्षक पुस्तक का प्रसङ्ग उठाया। मुझे आश्चर्य हुआ कि वहाँ के सब लोगों

ने एक स्वर से आपके इस निबन्ध की प्रशंसा की। आश्चर्य होने का कारण यह है कि अच्छा लगना एक चीज है और अच्छा कहना दूसरी चीज है। अच्छी चीज सहज ही में अच्छी लगती है, तर्क-वितर्क करके और युक्ति विचार से वह अच्छी नहीं लगती—किन्तु समालोचना करते समय मनमें ऐसे तर्क-विचार का प्रादुर्भाव हो जाता है कि, झट से किसी एक चीज को अच्छा कह देना बहुत ही कठिन काम हो जाता है। तब यही विचार आता है कि जिस लेख को मैंने पढ़ा है, उसका लेखक कौन है, उसमें क्या है, उसमें कौन सी नयी बात बतायी गयी है, ऐसे लेखों को समालोचक लोग क्या कहते हैं, यह किस श्रेणी के अन्तर्गत है, इत्यादि इत्यादि! और उसके बाद देखते-देखते झुण्ड के झुण्ड 'यदि' 'किन्तु' 'कौन जाने', 'संभवतः' आदि एक हजार रक्तशोषकों का आगमन हो जाता है। वे लोग चारों तरफ तीन कोस के अन्दर थोड़ी सी भी सारवस्तु नहीं छोड़ते। 'अच्छा लगना' नामक वस्तु ऐसी कोमल और सुकुमार होती है कि, इस [illegible] के साथ सिद्ध करने के प्रयत्न में वह व्यक्ति, एकदम चले जाने की अवस्था को पहुँच जाता है। समालोचकगण अपने विरुद्ध आपही गवाही देने लगते हैं। अच्छा लगने पर भी ये लोग युक्तियों से यह प्रमाणित कर देते हैं कि अच्छा नहीं लगा है। यह हुआ समालोचना-तत्त्व। जो हो, आपकी पुस्तक समाप्त हो जाने पर अब यह इच्छा लगी हुई है कि यह साधारण पाठकों को कैसी लगी है? सम्भवतः अच्छी भी लगी होगी। अच्छा लगने का एक कारण यह देख रहा हूँ कि, आपने अपनी पुस्तक में हमारे चिर-परिचित बंग देश की एक नवीन मूर्ति स्थापित कर रक्खी है। बंगला भाषा के किसी और लेखक को ऐसी सफलता नहीं मिली है। आजकल की अधिकांश बंगला पुस्तकें पढ़ने से मुझे यही मालूम होता है कि, आधुनिक बंगला साहित्य के समाज-निरूपण के नियम को लेकर

भविष्य में तर्क उठ सकता है। सम्भवतः आपने सुना होगा कि, किसी अमेरिकी भाषा तत्वविद् का कथन है कि, पाणिनि जिस भाषा का व्याकरण है, वह भाषा ही किसी युग में नहीं थी। उनका कहना है कि पाणिनि में ऐसी अनेक धातु आदि मिलती हैं जो समस्त संस्कृत भाषा में ढूँढ़ने पर नहीं मिलतीं। इसलिये उन्होंने हठात् मान लिया है कि, पाणिनि-व्याकरण एक ऐसा गूलर का फूल है, जो किसी भी गूलर के पेड़ पर खिला ही नहीं। बहुत सी ऐसी भाषाएँ हैं जिनके व्याकरण अभी तक तैयार नहीं हुए हैं। किन्तु कौन जानता था कि ऐसा भी व्याकरण है जिसकी भाषा तैयार नहीं हुई है। इस घटना से, मेरे मन में यह विचार उठा है कि, भविष्य में एक ऐसे तत्व का प्रादुर्भाव हो सकता है, जो असन्दिग्ध रूप से यह सिद्ध कर सकेंगे कि बँगला साहित्य जिस देश का साहित्य है, वह देश मूलतः कहीं भी नहीं था—उस समय बङ्किम बाबू का इतना प्रिय गान 'सुजलां सुफलां मलयज शीतलाम्' गान पुरातत्त्व की गवेषणा के झटके से न मालूम कहाँ उड़ जायगा। विद्वान् लोग कहेंगे, बङ्ग साहित्य एक कालेज का साहित्य है, इस देश का साहित्य नहीं है—किन्तु वह कालेज कहाँ था इस विषय की कुछ भी मीमांसा न होगी। आपकी उस रचना में बङ्ग देश का पता मिलता है। भारतवर्ष के पूर्व भाग के भूगोल पर विश्वास उत्पन्न होता है। आप की उस रचना में अधिकांश स्थानों पर बंगाल के लड़के-लड़कियाँ कालेजी बातें नहीं कहतीं, कालेजी काम नहीं करतीं, वे प्रति दिन अपने घरों में जैसी बातें कहती हैं और जैसा करती हैं, वही दिखाई पड़ता है। किसी दूसरे की रचना या मेरी रचना में ऐसा होने का उपाय नहीं है। किन्तु आपको अब अहङ्कृत न किया जायगा, इसलिए मैं यहीं पर समालोचना बन्द कर देता हूँ।

५

१८८६

आपकी चिट्ठी मुझे अभी मिली है, दिन के दस बज चुके हैं। बाहर असहनीय गरमी है, हमारे कमरे के सभी दरवाजे खिड़कियाँ बन्द हैं। सिरके ऊपर पंखा हनहना रहा है। भीगी खस की टट्टी को छेदकर पश्चिम की हवा शीतल बनकर कमरे में प्रवेश कर रही है। कमरे में एक तरह से अच्छी ही हालत में हूँ। उसी पुराने डेस्क पर झुककर चिट्ठी लिखने लगा हूँ। आपकी "फुलजानी", मैं पहले ही भारती में पढ़ चुका हूँ और पढ़ते ही मैंने आपको एक चिट्ठी लिखने का विचार किया था। उसके बाद मैंने सोचा, आप योंही चिट्ठी का उत्तर देर से देते हैं, उसपर से यदि आप का उत्तर न मिलने पर भी चिट्ठी लिख दूँ तो आप को बहुत प्रश्रय देना होगा। ऐसे व्यवहार से मित्रों का स्वभाव खराब हो जाता है। इसीलिए मैंने लिखना बन्द कर दिया। आपका लिखा विषय मुझे बहुत अच्छा लगता है। उसमें किसी तरह की औपन्यासिक मिथ्या-छाया नहीं रहती और वह एक ऐसा चित्र सामने उपस्थित कर देती है, जो हमारे देश के किसी अन्य लेखक में नहीं रहता। आप किसी प्रकार के ऐतिहासिक या औपदेशिक विडम्बना में [illegible] मानव हृदय में जो गम्भीरता विद्यमान है और मनुष्य जीवन का छोटा छोटा सुख-दुःख-पूर्ण और चिन्ताजनक इतिहास है, उसे ही आप [illegible] दीजियेगा। शीतल छाया, आम [illegible] का [illegible], [illegible] का [illegible], कोयलों की पुकार, शान्तिमय प्रभात और सन्ध्या, इन सब में ही प्रच्छन्न भाव है, [illegible] कर, [illegible], [illegible] लेकर जो मानव-जीवन-स्रोत [illegible] प्रवाहित हो रहा है, उसे ही आप अपने चित्र में दिखाइयेगा। प्रकृति की शान्ति में, स्निग्ध छाया

से परिपूर्ण श्यामल नीड़ में जिन सब छोटे-छोटे हृदयों की व्याकुलता निवास करती है—पपीहा, कोयल, बुलबुल के गानों के साथ मानव-हृदय की जो सब आकांक्षाध्वनियाँ लगातार आकाश की तरफ उठ रही हैं, आप स्वलिखित विषयों में वही चित्र और वही गान सन्निहित कीजियेगा। किसी तरह की जटिलता, चरित्र-विश्लेषण या दुर्दान्त असाधारण हृदयावेग लाकर स्वच्छ, मधुर, शान्तिमय घटना-स्रोत को गन्दा मत बना दीजियेगा। मुझे विश्वास है, यदि आप अधिक बढ़ा चढ़ाकर अतिशयोक्ति न करेंगे तो आप बंग देश के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास-कारों में आसन पा सकेंगे। बंगाल के घोर देहात में रहने वाले यथार्थ बंगालियों के सुख-दुःख की बातें अभी तक किसी ने नहीं कही हैं। उसका भार आपके ऊपर रहा। बङ्किम बाबू ने उन्नीसवीं सदी के पोष्य-पुत्र आधुनिक बंगालियों के बारे में जहाँ कुछ कहा है, वहाँ वे सफल हुए हैं, किन्तु जहाँ वे पुराने बंगालियों के सम्बन्ध में कुछ कहने लगे हैं वहाँ उनको बहुत कुछ बनाकर, बढ़ाकर कहना पड़ा है। उन्होंने चन्द्र-शेखर, प्रताप आदि कितने ही बड़े बड़े मनुष्यों के चरित्र अङ्कित किये किन्तु वे बंगाली चरित्र अंकित नहीं कर सके हैं। हमारे इन चिर-पीड़ित, धैर्यशील, स्वजन-वत्सल, बाप दादों के मकान में चिपके रहने वाले इस प्रचण्ड कर्मशील पृथ्वी के एक निभृत प्रान्त में बसने वाले शान्त बंगालियों की कहानी, किसी ने अच्छी तरह नहीं सुनायी है।

●

६

१८८७

शनैः शनैः सप्ताह के बाद सप्ताह आते रहेंगे, किन्तु 'सप्ताह' अव

न निकलेगा। अतएव इष्ट मित्र सभी निश्चिन्त हो जायँ। सोचिये तो भला, मैं यह क्या करने को तत्पर हो गया था। सप्ताह निकालने के बहाने अपने जीवन से सप्ताहों को एकदम गायब कर देने को तैयार हो गया था। इस समय जैसे मैं सप्ताह में सात दिन पा जाता हूँ, उस समय सप्ताह में सात दिन योंही निकल जाते। महीने के बाद महीना आता, किन्तु सप्ताह नहीं आता। सभी दिन, मुझे हाथ में लाठी लिये खदेड़ते रहते। मैं कहाँ जाकर खड़ा होऊँ, इसे सोचकर भी ठीक नहीं कर पाता। हरिश्चन्द्र जिस तरह विश्वामित्र को सम्पूर्ण पृथ्वी दान करके घबड़ाहट में पड़ गये थे, अन्त में स्वर्ग तक भी उनके भाग्य में नहीं रहा, मैं भी उसी तरह, अपना सब समय दूसरे के हाथ में देकर अन्त में स्वर्ग तक को भी खो बैठा। क्योंकि अखबार लिखकर आजतक किसी को अमरलोक की प्राप्ति नहीं हुई है। बसन्त काल आ गया है, दक्षिण की हवा बहने लगी है, यह समय थोड़ा बहुत गाने-बजाने के लिये है—ऐसे समय में यदि रूस, चीन, और पठानों की अराजकता, भगों के देश, आबकारी डिपार्टमेण्ट, नमक कर, तारों के समाचार, इत्यादि संसार के सारे शैतानों के ऊपर नजर रखनी पड़े तो उस हालत में प्राण रखना भी कठिन हो जायगा। संसार का गुप्तचर बनकर जीवित रहने में कोई सुख नहीं है। जीवन में तो बसन्त काल बहुत नहीं आता। जब तक यौवन है, तब तक कुछ थोड़े से बसन्त हाथ लग जाते हैं। इनको न खोकर मैंने सोचा है कि, वृद्धावस्था में एक अखबार निकालूँगा। उसी समय सम्भवतः फुरसत रहेगी, गाना बन्द रहेगा और उसी समय [illegible] गले से [illegible] का प्रचार किया जा सकेगा। अभी बहुत-सी बातें कहने को बाकी हैं, उन्हें पहले समाप्त हो जाने दें। आपकी चिट्ठी में रानी सरल-सुन्दरी का विवरण पढ़कर मुझे अच्छा लगा। आपको उनकी सेवा-सुश्रूषा करने को मिला है, यह आपके लिए बहुत ही सौभाग्य की बात है।

महान् उदाहरण अनेक कारणों से हमारी नजर में नहीं पड़ते, वे हमारे दृष्टि-पथ में पड़ सकें इसके लिये आपको चेष्टा करनी चाहिये।



७

अक्टूबर १८८७

मैं प्रायः एक महीने का समय दार्जिलिङ्ग में बिता आया। आप की चिट्ठी कलकत्ता पहुँचकर मेरे लिए प्रतीक्षा कर रही थी। वहाँ से लौटने पर वह मुझे मिली। बहुत दिनों से मैं आप को लिखने का विचार कर रहा था, किन्तु दैव-दुर्विपाक से यह काम न हो सका। इस बार मेरा कोई ज्यादा दोष नहीं था। मेरी कमर में गठिया का दर्द शुरू हो जाने से कुछ दिन शय्या पर पड़ा हुआ था। अभी तक अच्छी तरह से रोगमुक्त नहीं हुआ हूँ। किन्तु अब बिछौने से उठकर बैठने लगा हूँ, किन्तु बहुत देर तक कुर्सी पर नहीं बैठ सकता। मेरी कमर के सिवा संसार में सभी बात मङ्गलमय है। मेरी स्त्री और कन्या दार्जि-लिङ्ग में हैं। मैं कलकत्ते के अपने मकान के कमरे में बैठा हुआ विरह भोग रहा हूँ, किन्तु विरह की अपेक्षा कमर की वेदना ही अधिक कष्टकर मालूम हो रही है। कवि लोग चाहे जो भी कहें, मुझे इस बार पता चल गया है कि, गठिया के सामने विरह का प्रभाव नहीं रहता। कमर में वेदना होने पर चन्दन पीसकर लेप करने से दर्द दूना बढ़ जाता है। चन्द्रज्योत्स्नायुक्त पूर्णिमा सान्त्वना का कारण न होकर यन्त्रणा का कारण बन जाती है, और शीतल समीर विभिषिकावत् प्रतीत होता है। फिर भी कालिदास से लेकर रामकृष्ण राय तक, किसी ने भी 'बात' रोग पर एक पंक्ति भी नहीं लिखी है। सम्भवतः उनमें से किसी को बात रोग नहीं हुआ था। परन्तु मैं

लिखूँगा। इस प्रसङ्ग में मैं आप से एक तत्व की मीमांसा पूछता हूँ। विरह का कष्ट ही कविता का विषय क्यों है, बात का कष्ट क्यों नहीं है। कमर जैसी साधारण वस्तु मालूम होती है, वैसी साधारण नहीं। हृदय टूट जाने पर मनुष्य सिर ऊपर उठाकर सीधा खड़ा रह सकता है, किन्तु कमर टूट जाने पर मनुष्य बिलकुल ही झुक जाता है। उसकी उत्थान-शक्ति तब नहीं रह जाती। तब प्रेम का आह्वान, स्वदेश का आह्वान, सारे संसार का आह्वान आजाने पर भी, वह कमर तार्पीन तेल की मालिश चाहती रहेगी। जब तक मनुष्य की कमर नहीं टूट जाती तब तक वह पृथ्वी के मध्याकर्षण की शक्ति का अनुभव, ठीक-ठीक नहीं कर सकता। आप पुस्तकों में पढ़ चुके हैं, फिर भी आप नहीं जानते की जननी वसुन्धरा लगातार ही हमारा मध्य भाग पकड़कर आकर्षण कर रही हैं। बात रोग होने पर ही मातृस्नेह का प्रबल खिंचाव विशेष रूप से अनुभव किया जाता है। जो भी हो श्रीशबाबू, मित्र की दुर्दशा सुनकर आप अपनी कमर को तुच्छ मत समझ लीजियेगा। [illegible] अनुमान है, उसमें कल्पना का लेशमात्र नहीं है। वर्तमान समय में मैं उसी समय का अनुभव कर रहा हूँ, इसीलिये आप को अब चिट्ठी नहीं लिख सकता। बाल विवाह के सम्बन्ध में आपने प्रश्न किया था [illegible] जायगा। फिलहाल इतना ही कहे देता हूँ [illegible] बाल-विवाह करें, किन्तु किसी की कमर में बात रोग कभी भी न हो।

●

८

[illegible], १८८७

[illegible] मैं अब मैं दार्जिलिंग पहुँच गया। [illegible]

तरह बर्ताव किया है ! बहुत ज्यादा रोना-धोना नहीं मचाया। खूब चीखता रहा, उपद्रव करता रहा, तोतली बोली में कुछ कहता रहा, हाथ घुमाता रहा, चिड़ियों को बुलाता रहा, यद्यपि कहीं भी कोई चिड़िया उसे नहीं दिखाई पड़ी। तो भी, घाट पर जब हम स्टीमर पर चढ़ने लगे तो बड़ा झमेला बढ़ा। रात के दस बजे थे, सामान अधिक था, कुली इने-गिने थे। स्त्रियाँ थीं पाँच, और पुरुष केवल एक। नदी को पार करके एक छोटी रेलगाड़ी पर हमलोग सवार हुए। उस डिब्बे में चार बिछौने थे, हम लोग संख्या में ६ थे। स्त्रियों को और दूसरी चीजों को जनाने डिब्बे में चढ़ाया गया। यह बात सुनने में जितना कम समय लगा, ठीक उतने कम समय में काम नहीं हुआ था। बुलाना-पुकारना, दौड़-धूप मचाना बहुत कम नहीं हुआ, तो भी "न" कहते हैं कि मैंने कुछ नहीं किया—अर्थात् एक समूचा मनुष्य एकदम पूर्ण रूप से पागल हो उठने पर जैसा हो जाता है, ठीक उसी तरह मैं भी हो जाता तो वह पुरुषोचित काम होता। किन्तु इन दो दिनों में मैंने इतने अधिक बक्स खोले हैं और बन्द किये हैं, बेञ्चों के नीचे उन्हें ठेल रक्खे हैं और उन जगहों से खींचकर उतारा है, कोई दूसरा नहीं कर सकता। इतने बक्सों और गठरियों के पीछे मैं घूम चुका हूँ, इतने बक्स और गठरियाँ मेरे पीछे अभिशाप की तरह घूमती रही हैं, इतनी चीजें खो गयी हैं और इतनी मिल गई हैं, जो नहीं मिली हैं उन्हें पाने के लिये इतनी चेष्टा की गई है और की जा रही है कि किसी भी छब्बीस वर्ष के भले घर के भाग्य में ऐसा नहीं हुआ होगा। मुझे एक नया रोग 'बक्सों की बीमारी' हो गयी है। बक्स देखने से ही मेरे दाँत से दाँत कटकटाने लगते हैं। जब चारों तरफ नजर उठाकर मैंने देखा, तो केवल बक्स ही दिखाई पड़े। उनमें से कुछ छोटे, कुछ बड़े और कुछ मझोले आकार के थे। कुछ हलके, कुछ भारी थे, कुछ काठ के बने थे, कुछ

टीन के थे, कुछ पशुओं के चमड़े के थे, और कुछ कपड़े के थे। एक नीचे पड़ा हुआ था, एक ऊपर था, एक सामने था और एक था पीछे। उस समय बुलाने-पुकारने, दौड़-धूप मचाने की मेरी स्वाभाविक शक्ति बिलकुल ही लुप्त हो गयी थी। उस समय मेरी शून्य दृष्टि, मेरा सूखा चेहरा, मेरा दीन भाव से अवाक् खड़ा रहना देखकर, मुझे कापुरुष के सिवा और कुछ भी नहीं कहा जा सकता था। इस कारण मेरे सम्बन्ध में 'न'....ने जैसा विचार अपने मन में धारण किया है उसे ठीक ही माना जायगा। जो हो, उसके बाद मैं एक दूसरे डिब्बे में जाकर लेट रहा। उस डिब्बे में दो बंगाली और थे। वे ढाका से आ रहे थे। उनमें से एक के सिर पर बाल प्रायः नहीं के बराबर थे, और उनकी बोली बहुत ही टेढ़ी थी। उन्होंने मुझसे पूछा—"आप का पिता दार्जिलिङ्ग में था?" लक्ष्मी रहती तो इसका यथोचित उत्तर दे सकती। शायद वह कहती—'वे दार्जिलिङ्ग में था किन्तु उस समय दार्जिलिङ्ग बहुत ठण्डे में, इस कारण वे अपने घर लौट गया है।' उस समय पर मेरे मुँह से ऐसी भाषा न निकल सकी।

सिलिगुड़ी से दार्जिलिङ्ग तक लगातार 'स'....के मुँह से उमङ्गभरी ये उक्तियाँ निकलती रहीं—'अरे माँ' 'कितना अच्छा है' 'क्या ही आश्चर्यजनक है' 'क्या ही मनोहर है?' वह केवल मुझे ठेलता रहा और कहता रहा "र....देखो, देखो"। मैं क्या करता, जो कुछ वह दिखाता उसे देखना ही पड़ता था—कभी पेड़, कभी बादल—कभी चिपटी नाक वाली कोई पहाड़ी औरत—कभी ऐसे ही और कितने दृश्य मैं देखता रहा, परन्तु 'स' ने दुःख प्रकट करके कहा—'र' का तो कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता। गाड़ी तेज चलने लगी। क्रमशः ठण्डक बढ़ने लगी, बाद को बादल दृष्टिगोचर हुए, उसके बाद सर्दी पहुँची, उसके बाद कुहरा छाने लगा, उसके बाद शाल ओढ़ लेने की

जरूरत हुई, फिर कम्बल ओढ़ना पड़ा और अन्त में दुलाई भी ओढ़ लेनी पड़ी। पैर काँपने लगे, हाथ ठण्ढे हो चले, मुँह नीला हो गया, गला रुँधने लगा, उसके बाद तुरन्त ही दार्जिलिङ्ग पहुँच गया। फिर सामने आ गये वे ही बक्स, बेग, बिछौने, गठरियाँ, गठरी के ऊपर गठरी, मजदूर के बाद मजदूर! फिर शुरू हुआ ब्रेक से माल पहुँचाना, साहब को रसीद दिखाना, साहब से तर्क-वितर्क करना, चीज-सामान का ढूँढ़ने पर न मिलना, और उन खोई हुई चीजों को पुनः पाने के लिये तरह-तरह की व्यवस्थायें करना। इन सब कामों में मेरा दो घण्टे का समय बीत गया।



९

स्यालदह
१८८८

स्यालदह के दूसरे पार एक [illegible] दिया गया है। बहुत विस्तृत रेती है [illegible] भी उसका अन्त नहीं दीख पड़ता। केवल बीच-बीच में कहीं कहीं नदी का चिह्न दिखाई पड़ता है—फिर बहुत देर तक देखने से भ्रम होता है कि नदी है या नहीं है। कहीं गाँव नहीं है, मनुष्य नहीं है, पेड़ नहीं है, घास नहीं है—ऐसी [illegible] भीगी काले रङ्ग की मिट्टी है, [illegible]। पूरब तक मुँह घुमाकर दूर तक देखने से [illegible] दिखाई पड़ती है और नीचे अनन्त पीलापन दृष्टिगोचर होता है। आकाश शून्य है, और पृथ्वी भी शून्य है। नीचे है [illegible] है अशरीर उदार शून्यता। ऐसी शून्यता कहीं दिखाई नहीं पड़ती।

हठात् पश्चिम तरफ मुँह घुमाने के साथ ही दिखाई पड़ती है स्रोतविहीन छोटी नदी की पेटी, दिखाई पड़ते हैं उस पार के ऊँचे-ऊँचे वृक्ष और झोपड़े। ये सभी सन्ध्याकालीन सूर्य के प्रकाश में आश्चर्यजनक स्वप्नवत् मालूम होते हैं। प्रतीत होता है नदी के एक पार में है सृष्टि और दूसरे पार में है प्रलय। कहने का तात्पर्य यह है कि सन्ध्या के ही समय हमलोग टहलने निकलते हैं और उसी दृश्य का चित्र मन में अङ्कित होकर मन नाच उठता है। यह पृथ्वी वास्तव में कितनी आश्चर्यजनक सुन्दरी है, इसे कलकत्ते में रहते समय भूल जाना पड़ता है। यह जो छोटी नदी के किनारे, शान्तिपूर्ण पेड़-पौधों के बीच प्रतिदिन सूर्य अस्त होता है और इस अनन्त, धूसर-निर्जन शब्दहीन रेती के ऊपर प्रतिरात्रि को, जो लाखों नक्षत्रों का शब्द-हीन अभ्युदय हो रहा है, यह घटना इस विशाल संसार में कैसी आश्चर्यजनक और बड़ी है, यह बात नहीं रहने पर समझ में आती है। प्रभात काल में, पूर्व दिशा में सूर्य जैसे एक प्रकाण्ड ग्रन्थ के पन्ने धीरे-धीरे खोल रहा है, और सन्ध्या के समय पश्चिम दिशा के आकाश के ऊपर धीरे धीरे जिस प्रकाण्ड पन्ने को उलट रहा है, अहा! कैसी आश्चर्यजनक लिखावट है! और यह पतली संकीर्ण नदी, बहुत दूर तक फैली हुई रेती, तसवीर-सरीखी उसपार की भूमि जो हम देख रहे हैं, यह तो इस पृथ्वी का एक उपेक्षित भूभाग है—यह तो एक बृहत् निस्तब्ध निभृत पाठशाला-सा प्रतीत हो रहा है। ये बातें राजधानी में बहुत अंशों में 'कविता' की भाँति सुननी पड़ेंगी, किन्तु इस जगह के लिए ये बातें बिलकुल ही [illegible] नहीं हैं।

सन्ध्या के समय इन सूखी रेतों में घूमते-घूमते थककर, लड़कों का दल नौकरों के साथ एक तरफ चला जाता है, मिसेज दूसरी तरफ चली जाती हैं, और मैं [illegible] किसी को आगे चला जाता हूँ। इस तरह टहलते समय सूर्य बिलकुल डूब जाता है, आकाश की सुनहली

आभा गायब हो जाती है, अँधियारी चारो तरफ अस्पष्ट हो जाती है, क्रमशः अपने पास की क्षीण-पतली परछाईं देखकर मैं समझ जाता हूँ कि, वक्र क्षीण चन्द्रमा की ज्योति थोड़ी थोड़ी करके प्रकट होने लगी है। पीले बालू पर, इस पीली ज्योत्सना के पड़ जाने से आँखों में एक किस्म की चकाचौंध पैदा हो जाती है, भ्रम उत्पन्न हो जाता है—फिर तो ऐसी दशा हो जाती है कि, कहाँ है बालू, कहाँ है जल, कहाँ है पृथ्वी, कहाँ है आकाश, यह सब ही अनुमान से समझना पड़ता है। इस कारण यह सब मिल-जुलकर, जगत् एक विशाल किन्तु अवास्तविक मरीचिका के समान दृष्टिगोचर होने लगता है। कल ऐसा हुआ कि, इस माया-उपकूल में बड़ी देर तक टहलकर जब मैं अपने बोट में वापस आया तो देखा कि, लड़कों के अतिरिक्त हमारे दल का कोई भी लौटा नहीं है। मैं एक आराम-कुर्सी पर स्थिर भाव से बैठ गया। Animal Magnetism नामक एक अत्यन्त हलके विषय की पुस्तक लेकर, बत्ती के क्षीण-प्रकाश में पढ़ने लगा। किन्तु कोई भी लौट कर नहीं आया। तब पुस्तक को खाट पर रख कर मैं बाहर निकला, ऊपर चढ़कर चारों तरफ नजर दौड़ाकर देखने लगा, कहीं भी काले मस्तकों का कोई भी चिह्न मुझे नहीं दिखाई पड़ा। सर्वत्र धुँधलापन ही नजर आ रहा था। एक बार 'बलू' का नाम लेकर मैंने पूरी ताकत से पुकारा। कंठस्वर झनझनाता हुआ चारो तरफ दौड़ पड़ा, किन्तु किसी का उत्तर मुझे नहीं मिला। तब मेरी छाती एकाएक दहल उठी, ठीक वही दशा हुई जैसी कि एक बड़े खुले छाते को हठात् बन्द कर देने से होती है। गफूर मियाँ बत्ती लेकर बाहर आया, प्रसन्न भी आया, बोट के मल्लाह निकल आये, हम सब आपस में बँट कर विभिन्न दिशाओं को चल पड़े। मैं एक तरफ 'बलू' 'बलू' कह कर चिल्ला रहा था—प्रसन्न दूसरी तरफ पुकार रहा था—'छोटी माँ'—। बीच बीच में, मल्लाह 'बाबू' 'बाबू' कह कर

चिल्ला रहे हैं। उस मरुभूमि में, निस्तब्ध रात्रि में बहुत से आर्त्त स्वर उठने लगे। किसी की कोई आहट नहीं, किसी का कोई उत्तर नहीं। गफ़ूर बहुत दूर से दो-एक बार जोरों से बोल उठा—'देख लिया'—उसके बाद तुरन्त ही अपना संशोधन करके बोलता—नहीं। अब मेरी मानसिक अवस्था कैसी हुई इसे कल्पना द्वारा देखो—इस कल्पना में क्या देखोगे! देखोगे शब्दहीन रात्रि, क्षीण चाँदनी, निर्जन-निस्तब्ध-शून्य रेती, दूरवर्ती स्थान में गफ़ूर के हाथ की लालटेन का उजाला, बीच-बीच में चारो तरफ से आने वाले कातर कंठो के आह्वान और चारो तरफ उसकी उदास प्रतिध्वनि, बीच बीच में आशा का उन्मेष, और दूसरे ही क्षण गम्भीर नैराश्य! अब असम्भाव्य आशंकाएँ मन में जागने लगीं। एक बार खयाल हुआ कि वे लोग मरीचिका में पड़ गये, दूसरी बार यह सोचा कि शायद 'बल' हठात् मूर्छित हो गया है या उसे और कुछ हो गया है—कभी मन में अनेक प्रकार के वन्य-जन्तुओं की विभीषिका कल्पना में उदित होने लगती! मन में यही विचार उठने लगा कि, जो लोग आत्म-रक्षा करने में असमर्थ होते हैं, वे अवश्य ही दूसरों को विपत्ति में डाल देते हैं। मैं स्त्री-स्वाधीनता के विरुद्ध दृढ़-प्रतिज्ञ बन गया। ऐसे ही समय में एक घंटे के बाद आवाज उठी कि वे लोग रेती में चलते-चलते दूसरे पार पहुँच गये हैं, अब लौटने में असमर्थ हो रहे हैं। बोट उसपार ले जाया गया, बोट लक्ष्मी घाट पर लौट आयी। 'बलू' कहने लगा, तुम लोगों के साथ अब मैं कभी टहलने न जाऊँगा। सभी अनुतप्त थे, थके हुए थे, परेशान थे। इसलिए मेरे मन में जो सब अच्छे-अच्छे [illegible] थे, वे हृदय में ही विलीन हो गये। दूसरे दिन प्रातःकाल नींद टूटने पर भी मैं क्रोध न कर सका!

१०

कलकत्ता
जून १८८८

गाड़ी चलने लगी तो बे—चारों तरफ ताकने लगा, फिर गम्भीर भाव से बैठ गया। वह सोचने लगा—इस संसार में कहाँ से मेरा आना हुआ है, कहाँ जाना है, इस जीवन का उद्देश्य क्या है? वह सोचता ही रहा। क्रमशः मैंने देखा कि बार-बार जम्हाई लेने लगा है, उसके बाद थोड़ा समय बीत जाने पर मेरी गोद में सिर रखकर पैर पसार नींद में खर्राटे लेने लगा। मेरे मन में भी संसार के सुख-दुख के सम्बन्ध में तरह-तरह के विचार-तरङ्ग उठ पड़े थे, फलतः मुझे नींद नहीं आयी। इस कारण मैं मन ही मन भैरवी अलापने लगा। भैरवी सुर के पेचीले शब्द जब सुनाई पड़ते हैं तब इस जगत् के प्रति एक प्रकार का विचित्र भाव उदित होता है। मालूम होता है कि एक निमयबद्ध यन्त्र-हस्त, लगातार 'आर्गिन-यन्त्र' की बाहों को घुमा रहा है और उस घर्षण-वेदना से समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड के मर्मस्थल से एक गम्भीर कातर करुण-रागिनी उच्छ्वसित होकर उठ रही है। प्रभात काल के सूर्य का सारा प्रकाश म्लान हो गया है, पेड़-पौधे निस्तब्ध होकर मानो कुछ सुन रहे हैं, और आकाश—एक निश्वासी अश्रु की भाप से मानो आच्छन्न हो गया है, अर्थात् सुदूर आकाश की तरफ ताकने से मालूम होता है जैसे कोई नीली आँख, [illegible] से डबडबायी हुई ताक रही है।

खिड़की स्टेशन पर गाड़ी पहुँची तो मैंने अपना ईख का खेत देखा, पेड़ों की कतारें देखीं, टेनिस का मैदान देखा, काँच की खिड़-

कियों वाला अपना मकान देखा। देखकर मेरे मन में क्षणभर के लिये एक विचित्र भाव उत्पन्न हो गया। यह मनोभाव आश्चर्यजनक था। जब मैं यहाँ रहता था, तब इस मकान पर मेरा विशेष स्नेह न रहा हो ऐसी बात नहीं है—जब इस मकान को छोड़कर मैं चला गया था, तब इसके लिये मैं विशेष कातर हो गया था, यह भी मैं नहीं कह सकता। फिर भी तेज चलने वाली ट्रेन के जँगले के पास बैठा हुआ जब केवल एक क्षण के लिये उस अकेले मकान को देख लिया, और यह समझ लिया कि यह अकेला मकान अपने खुले स्थान और खाली कमरों समेत चुपचाप खड़ा है, तब मेरा समस्त हृदय विद्युत्-वेग से इसी मकान पर उछल पड़ा, उसी क्षण छाती के अन्दर बायीं तरफ से दायीं तरफ तक, धक् करके एक आवाज हुई और झट से गाड़ी चली गयी। ईख का खेत लापता हो गया—बस—सब खत्म हो गया—केवल हठात् चोट खा जाने के कारण मनके छोटे बड़े दो-चार तार, लगभग डेढ़ फुट तक नीचे उतर गये। किन्तु गाड़ी के इंजन को इन सब विषयों की कोई विशेष चिन्ता नहीं रहती, वह लोहे के बने रास्ते से अपनी धुन में एक ही रुख से चला जाता है, कौन आदमी कहाँ किस तरह जा रहा है, इस सम्बन्ध में सोच-विचार करने का समय उसके पास नहीं रहता। वह तो केवल घरघराहट के साथ जल पी लेता है, हुस् हुस् करके धुआँ फेंक लेता है, और घरघराता हुआ चला जाता है। संसार की गति के साथ इसकी तुलना सुन्दर दी जा सकती थी, किन्तु यह तुलना इतनी पुरानी और अनावश्यक है कि, केवल एक बार निर्देश करके चुप हो जाना पड़ा। कालका के आस पास पहुँचने पर बादल छा गये और वर्षा होने लगी। उन पहाड़ों के ऊपर बादल जम गये और धुँधलापन सा छा गया था—मालूम होता था, कि किसी ने पहाड़ आँककर उसके ऊपर रबड़ से साफ किया है। मोटी मोटी Outline दिखाई पड़ रही है, और बाकी

तरफ पेन्सिल का दाग जरा सा पड़ा हुआ है। अन्त में गाड़ी की घंटी सुनाई पड़ी—दूर से गाड़ी की निद्राहीन लाल आँखें दिखाई पड़ीं, पृथ्वी थर-थर काँपने लगी, स्टेशन के कर्मचारी लोग चप्पल पहने, चपकन पहने, गोल टोपी पहने विभिन्न कोठरियों से निकल पड़े—बहुत सी लालटेनों से चारो तरफ प्रकाश छिटकने लगे—खानसामे सतर्क होकर अपना सामान असबाब सम्हाल कर खड़े हो गये। बे—सोने लगा।

हमलोग गाड़ी पर सवार हो गये। बे—अकारण ही जरा छटपटाने लगा। दिन चढ़ने लगा। यद्यपि धूप नहीं थी, तथापि गरमी महसूस होने लगी। समय बीतना ही नहीं चाहता था . . . . मानो ठेलठेल कर आगे सरकाना पड़ रहा था। . . . . जाकर जोरदार वर्षा शुरू हुई—खिड़कियाँ बन्द कर, काँच की खिड़की के पास बैठकर वर्षा की झड़ी देखना बहुत अच्छा मालूम होने लगा। एक स्थान पर मैंने एक बरसाती नदी का जो अद्भुत दृश्य देखा उसका क्या वर्णन करूँ! मैंने देखा, वह एकदम फूलकर उफन उठी है, चक्कर काटती हुई फेन लिये बह रही है, दौड़ती चली जा रही है, सिर पटक रही है, पत्थरों पर पछाड़ खा रही है। फिर उनके ऊपर से उन्हें पार करती हुई, उनके चारों तरफ चकोह बनाकर घूम रही है। इस तरह एक काण्ड उत्पन्न कर रही है। ऐसी उन्मत्तता मैंने पहले कभी नहीं देखी थी। सोहागपुर पहुँचकर जब मैंने तीसरे पहर भोजन किया, तब वर्षा की झड़ी रुक गयी थी। जब गाड़ी चल पड़ी तब मैंने देखा कि, सूर्य अत्यन्त लाल रंग धारण करके बादलों के बीच घुसा जा रहा है। मैं सोचने लगा था, खाने-पीने, बोलने-चालने, खेलने-कूदने, लिखने-पढ़ने में और लोगों का समय केवल अनजान भाव से बीतता जा रहा है, उनके ऊपर से समय प्रवाहित होता जा रहा है—उसके अस्तित्व का पता ही उनको नहीं लग रहा है—और मेरी यह

पड़ा कि, समय के ऊपर तैरता हुआ चला जा रहा हूँ। यह अनन्त समय मेरी छाती पर लग रहा है, मेरे मुँह पर लग रहा है। ठीक समय पर गाड़ी हवड़ा स्टेशन पर जा पहुँची। पहले मकान का जमादार "थो" दिखाई पड़ा, उसके बाद "स" दिखाई पड़ा—एक एक करके और लोग दिखाई पड़े। उसके बाद सेकेण्ड क्लास की गाड़ी की छतपर लादे हुए बिछौने उतारे गये। नौकरानी का पक्का टीन का बक्स, नहाने का टब यथास्थान रखा गया। टब में ही दूध की बोतलें, लोटे बरतन, पोटलियाँ आदि रख दिये गये। इस तरह हमलोग अपने घर पहुँचे। कलरव उठ पड़ा, लोगों की भीड़ एकत्र हो गई, दरबानों ने सलाम करना शुरू किया, नौकर-चाकर प्रणाम करने लगे, मुनीम नमस्कार करने लगे, हमलोगों में से कौन मोटा-ताजा हुआ है, कौन दुबला हो गया है, इस सम्बन्ध में परस्पर मतभेद प्रकट करने लगे। बे....को पाकर स्व....एण्ड कम्पनी के आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। चाय की मेज पर बहुत से लोगों का जमावड़ा हुआ। भोजनादि कृत्य चलने लगे।

●

११

शाहजादपुर

जनवरी १८९०

दोपहर को पगड़ी पहन, कार्ड पर नाम लिखकर, पालकी पर सवार हो जमींदार बाबू रवाना हुए। साहब तम्बू के बारामदे में बैठकर मुकदमों का विचार कर रहे थे। उनकी दाहिनी तरफ पुलिस खड़ी थी। प्रार्थियों का दल मैदान में, घाट पर, पेड़ों के नीचे जहाँ तहाँ बैठा हुआ प्रतीक्षा कर रहा था। बिलकुल उनके सामने ही पालकी रखी गयी,

तो उसमें से निकलते ही सब ने आदर के साथ उन्हें कुर्सी पर बैठाया। कम अवस्था के साहब छोकड़े से मालूम हो रहे थे, मूँछ की रेखा उग रही थी। बाल खूब भूरे रंग के थे, कहीं कहीं काले बालों की पट्टी सरीखी लगी हुई थी। अचानक देखने से बूढ़े से जान पड़ते हैं, किन्तु मुँह बिलकुल ही कच्चा है। साहब को मैंने कहा—कल रात को मेरे यहाँ भोजन करने आइये। उन्होंने कहा—मैं आज ही एक जगह जा रहा हूँ Pig-Sticking की व्यवस्था करने। मैं घर लौट आया। भयङ्कर आँधी आ गयी, मूसलाधार पानी बरसने लगा। पुस्तक छूने तक की इच्छा नहीं हुई। कुछ लिखना असम्भव हो गया—मन की ऐसी हालत हो गयी कि मैं कुछ बता नहीं सकता। तब मैं इस कमरे से उस कमरे में टहलने लगा। अँधेरा छा गया—बादलों की गड़गड़ा-हट होने लगी, बिजली लगातार चमकने लगी, रह-रहकर हवा के झोंके आने लगे और हमारे बरामदे के सामने के छोटे-बड़े पेड़ों की गरदन पकड़कर, मानो दाढ़ी समेत उसके सिर को झकझोरने लगे। देखते-देखते वर्षा के जल से हमारा सूखा हुआ नाला जल से प्रायः भर उठा। इस तरह टहलते-टहलते हठात् मेरे मन में यह विचार उठा कि ऐसी आँधी, ऐसे बादल, ऐसी वर्षा के समय मजिस्ट्रेट से हमारे यहाँ आश्रय लेने का अनुरोध करना मेरा कर्तव्य है। मैंने चिट्ठी भेज दी। चिट्ठी भेजकर उनको ठहराने के लिये कमरे की जाँच करने गया तो देखा, उस कमरे में बाँस की दो अरगनियों पर, तकिया, गद्दा, मैली रजाई टँगी हुई है। नौकरों के हुक्के, जली तमाखू की टिकिया, तमाखू आदि नीचे रखे हुए हैं। उनके ही कपड़ों की सन्दूक भी है। उनकी ही गन्दी रजाइयाँ हैं, और खोली का तोसक तेल से लथपथ है, स्याही की तरह काले रंग की चटाई है, फटा-पुराना एक टाट का टुकड़ा है और उसके ऊपर तरह तरह के मैल जमा हैं। कुछ काठ के सन्दूक पड़े हुए हैं, जिनमें टूटी-फूटी तरह तरह की चीजें रखी हुई हैं, जैसे [illegible]

लगी केटली की ढकनी, बगैर पेंदी वाला लोहे का चूल्हा, एक बहुत ही गन्दी जस्ते की चायदानी, आलमारी के शीशे और मैले शमादान, दो निकम्मे फिल्टर, Meatsafe, डेकची में थोड़ा सा पतला गुड़—जो धूल पड़ते पड़ते अब गाढ़ा हो गया है—कुछ मैले काले रंग के झाड़न, एक कोने में बासन माँजने का नाद, गफूर मियाँ का एक मैला गन्दा कुर्ता, पुराने मखमल का Shawl-cap, जल का दाग, दूध का दाग, काला दाग, भूरा दाग, सफेद दाग और तरह तरह के दाग वाला, शीशा-विहीन पुराना दीमकों का खाया हुआ Dressing table पड़ा है। उसके कई पैर टूट गये हैं, उसका शीशा दीवार के सहारे अन्यत्र रखा हुआ है, उसकी दराज में धूल भरी हुई है, पुराने ताले पड़े हुए हैं, टूटे गिलास का तलवा है और सोडावाटर बोतलों के टुकड़े हैं, कुछ खाटियों के टूटे हुए हिस्से भी हैं। यह हालत देखकर मेरी आँखें स्थिर हो गयीं। मैं लगातार बोलने लगा—"बुलाओ मुनीब जी को, जुटाओ कुलियों को, लाओ झाड़ू, लाओ पानी। सीढ़ी ला, रस्सी खोल दे, तकिया, रजाई, कथरी उतार दे, काँच के टूटे-फूटे टुकड़ों को चुन-चुनकर फेंक दे, दीवार से काँटियों को एक एक करके निकाल दे—अरे तुम सब लोग मुँह बाये खड़े क्यों हो, एकएक चीज प्रत्येक आदमी उठा ले जाओ—अरे सब तोड़ डाला रे तोड़ डाला—झन् झन् झन् कर लालटेन टूट-फूट कर चूर हो गयी!"

टूटी-फूटी टोकरियों को, डलियों को और बहुत दिनों से सञ्चित धूल सने फटे पुराने टाट को, अपने हाथ से खींचकर हटा दिया। नीचे से [illegible] चारों तरफ से निकल पड़े। वे लोग मेरे ही [illegible] एक साथ खाना पीना करते हुए [illegible] मेरा गुड़, मेरी पावरोटी और मेरे ही [illegible] को [illegible] का अवलम्ब था। [illegible] मैं दूसरी [illegible] आफत में पड़ गया।

'अरे, वे आ गये, झटपट कर।' उसके बाद वह आ ही गये। झटपट बाल दाढ़ी सब झाड़ साफकर मानो आदमी बन गया, मानो कोई काम नहीं कर रहा था, मानो सारा दिन आराम से बैठा हुआ था, इसी तरह का रुख दिखाकर अपने बड़े कमरे में बैठ गया। साहब आये तो मुस्कुराहट के साथ, हाथ हिलाते-डुलाते अत्यन्त निश्चिन्त भाव से बातें करने लगा—साहब के सोने के लिये जो कमरा ठीक हुआ है उसक क्या दशा है, यही चिन्ता लगातार मेरे मन में बलपूर्वक ठेल ठेलकर उठने लगी। मैंने उसमें जाकर देखा, एक तरह से काम-चलाऊ सफाई हो गयी है। रात को सुख-पूर्वक सोकर बिता भी सकते हैं, किन्तु यदि वे गृह-विहीन तिलचट्टे रात को उनके पैरों के तलवे में जाकर सनसनाहट न उपस्थित करें तभी अच्छी नींद आ सकती है।

१२

लन्दन,
१० अक्टूबर १८९०

मनुष्य लोहे का एक यन्त्र-विशेष है—जो लगातार नियमों के अनुसार चलता ही रहेगा। मनुष्य के मन के, इतने विचित्र प्रकार के विस्तृत कारोबार हैं, उसकी गति इतनी विभिन्न दशाओं में फैली रहती है कि उसे कुछ इधर, कुछ उधर हिलना-डुलना ही पड़ेगा। यही तो है उसके जीवन का लक्षण, उसके मनुष्यत्व का चिह्न, उसकी जड़ता का प्रतिवाद। यह दुविधा, यह दुर्बलता जिस मनुष्य में नहीं है उसका मन नितान्त संकीर्ण है, कठिन है और जीवन-विहीन है। जिसको हम प्रवृत्ति नाम से परिचय देते हैं, और जिसके प्रति हम बराबर ही कटू-क्तियाँ करते रहते हैं, वही तो है हमारे जीवन की गति शक्ति—वही हमें

तरह तरह के सुख-दुःख, पाप-पुण्य के बीच से अनन्त की तरफ विकसित कर रही है। नदी यदि पग पग पर यही कहने लगे कि कहाँ है समुद्र, यह तो मरुभूमि है, यह तो जंगल है, बन है, यह तो बालू की रेती है; मुझे जो शक्ति ठेलती हुई ले जा रही है वह शायद मुझे फुसलाकर किसी अन्य स्थान को लिये जा रही है—तो उस हालत में उसको जैसा भ्रम होता है, प्रवृत्ति के ऊपर बिलकुल अविश्वास करने से हमें भी उसी तरह का भ्रम होता है। हमलोग भी प्रतिदिन विचित्र संशयों के बीच से बहते हुए चले जा रहे हैं, अपने जीवन का अन्तिम परिणाम हमें नहीं दिखाई पड़ता। किन्तु जिन्होंने हमारे अनन्त जीवन के अन्तर्गत, प्रवृत्ति नामक प्रचण्ड गति-शक्ति प्रदान की है, वे ही जानते हैं कि उसके द्वारा वे हमें किस तरह परिचालित करेंगे। हमसे सर्वदा यही एक बहुत बड़ी गलती होती रहती है कि हमारी प्रवृत्ति हमें जहाँ ले आयी है, शायद वहीं ही छोड़कर वह चली जायगी, तब हमलोग यह नहीं जान सकते कि, वह हमें उसके बीच से खींचकर उठा ले जायगी। नदी को जो शक्ति मरुभूमि में ले आती है, वही शक्ति उसे समुद्र में ले जाती है। भ्रम में जो डाल देता है वही भ्रम से बाहर निकाल ले जाता है। इसी तरह हमारा सञ्चालन हो रहा है, जिसमें यह प्रवृत्ति नहीं है, अर्थात् जिसकी जीवन-शक्ति में प्रबलता नहीं है। जिसके मन का रहस्यमय विचित्र विकास नहीं है, वह सुखी हो सकता है, साधु-सज्जन हो सकता है, और उसकी इस संकीर्णता को लोग मन का जोर कह सकते हैं, किन्तु अनन्त जीवन का पाथेय उसमें अधिक नहीं रहता।

१३

पतिसर

१–६१

अपना बोट कचहरी से बहुत दूर लाकर, एक निर्जन स्थान में मैंने लगा दिया है। इस स्थान में कहीं भी किसी तरह का उपद्रव नहीं है। इच्छा करने पर भी इसे पाया नहीं जा सकता। सम्भवतः अन्य विविध वस्तुओं के साथ बाजार में इसे पा सकते हैं। इस समय मैं जिस जगह आ गया हूँ, उस जगह मनुष्यों के मुँह प्रायः नहीं दिखाई पड़ते। चारों तरफ मैदान, खेत दृष्टिगोचर होते हैं। खेतों की फसल काटकर किसान ढो ले गये हैं। केवल कटे धान की जड़ से सभी खेत ढँके हुए हैं। सारा दिन बिताकर सूर्यास्त के समय कल एक बार मैं इसी मैदान में टहलने चला गया था। सूर्य क्रमशः लाल रङ्ग धारण करके बिलकुल पृथ्वी की अन्तिम रेखा की ओट में अन्तर्हित हो गया, चारों तरफ कैसा सौन्दर्य छा गया, उसका वर्णन मैं क्या करूँ ? बहुत दूरी पर दिगन्त के एकदम आखिरी छोर पर कुछ पेड़-पौधों का घेरा डाल दिया गया था। वह स्थान ऐसा मायामय बन गया, नीले और लाल रङ्ग के मिश्रण से एक ऐसी धुँधली अँधियारी छा गयी, कि मालूम हुआ मानो वहाँ ही सन्ध्या का मकान बना हुआ है। वहाँ जाकर वह अपना लाल आँचल ढीला करके फहरा देती है, अपनी सन्ध्यातारका को यत्नपूर्वक जला देती है, अपनी निभृत निर्जनता के बीच सिन्दूर पहनकर वधू की तरह किसी की प्रतीक्षा में बैठी रहती है; और वहाँ बैठी रहकर दोनों पैर पसार तारों की माला गूँथती है और गुनगुन स्वर से स्वप्न-रचना करती है। सामने अपार मैदान

के ऊपर एक छाया पड़ गयी है, एक कोमल विषाद छा गया है, आँसू तो ठीक नहीं दिखाई पड़ते, पर एक अनिमेष आँख की बड़ी-बड़ी पलकों के नीचे जो गम्भीर भाव रहता है वैसी ही दशा है। हम ऐसा सोच सकते हैं कि पृथ्वी माता लोकालयों के बीच अपने बाल-बच्चों, कोलाहल और घर-गृहस्थी के काम-धन्धे में व्यस्त रहती है, जहाँ कुछ खाली जगह है, जरा निस्तब्धता है, जरा खुला आकाश है, वहाँ ही उसके विशाल हृदय का अन्तर्निहित वैराग्य और विषाद फूट उठते हैं, वहाँ ही उसका गम्भीर दीर्घनिःश्वास सुनाई पड़ता है। भारतवर्ष में जैसा बाधाहीन स्वच्छ आकाश है, विशाल विस्तृत समतल भूमि है, वैसा यूरोप के किसी भी स्थान में है या नहीं इसमें सन्देह है। इसी कारण हमारी जाति, मानो बृहत् पृथ्वी के उस असीम वैराग्य का आविष्कार कर सकी है, इसी कारण हमारे पूरबी में समस्त विशाल जगत् के अन्तर की हाहाकारमयी ध्वनि व्यक्त हो रही है, किसी की घरेलू बात इनमें नहीं है। पृथ्वी में एक अंश ऐसा कर्म-पटु है, स्नेहशील है, सीमाबद्ध है, कि उसके भाव को हमारे मन में विशेष प्रभाव फैलाने का अवसर नहीं मिला है। पृथ्वी का जो भाव निर्जन, विरल, असीम है, उसी ने हमें उदासीन बना दिया है। इसीलिए सितार पर जब भैरवी की रागिनी खींची जाती है, तब हमारे भारतवर्षीय हृदय में एक तरह का खिंचाव पहुँचता है। कल सन्ध्या के समय निर्जन मैदान में पूरबी सुनाई पड़ रही थी, पाँच-छः कोसों के बीच केवल मैं ही एक प्राणी टहल रहा था, और एक दूसरा प्राणी बोट के पास पगड़ी बाँधे हाथ में लाठी लिये अत्यन्त संभ्रम भाव से खड़ा था। मेरी बायीं तरफ़ की छोटी नदी, दोनों किनारों के ऊँचे कगारों के बीच टेढ़ी-मेढ़ी होकर, बहुत थोड़ी ही दूर पर दृष्टि-पथ से ओझल हो गयी है। उसके जल में लहरों के चिह्न-मात्र भी नहीं हैं। केवल सन्ध्या की आभा अत्यन्त मुमूर्षु हँसी की तरह अल्पक्षण के लिए उसके ऊपर पड़ी हुई थी। जैसा बड़ा मैदान था, वैसी ही बड़ी निस्त-

ब्धता थी; एक तरह की चिड़िया ऐसी होती है, जो जमीन में ही अपने लिए घोंसले तैयार करती है। उसी तरह की एक चिड़िया जितनी ही अँधियारी बढ़ने लगी, उतनी ही तत्परता से मुझे अपने एकान्त गृह के आस-पास आते-जाते देखकर, व्याकुल हो, सन्देह के स्वर से टीटी स्वर से बोलने लगी। क्रमशः कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की चाँदनी कुछ छिटक पड़ी। नदी के किनारे-किनारे खेतों के छोर से एक पतली पगडण्डी का चिह्न बराबर चला गया था। उसी पर सिर झुकाये चलते-चलते मैं अपने विचारों में डूबा हुआ था।

●

१४

काली ग्राम
५ मार्च १८९१

बहुत ही आलसी बने रहने लायक यह समय है, कोई हलचल मचाकर काम का तकाजा करने वाला आदमी यहाँ नहीं है। इसके सिवा आसामियों और कामों के झमेले सिर पर सवार नहीं हैं। बिलकुल ही शिथिल एकाकी जीवन कैसा अद्भुत मालूम हो रहा है, मानो इस संसार में अत्यावश्यक काम कुछ है ही नहीं—यहाँ तक कि नहाने से भी काम चल जायगा, बिना नहाये भी काम चलता रहेगा। और कलकत्ते के लोगों में ठीक समय पर खाने-पीने का जो नियम प्रचलित है, यह एक बहुत दिनों का कुसंस्कार-सा ही प्रतीत होता है। यहाँ के चारों तरफ का वातावरण ऐसा ही है। यहाँ एक छोटा नाला तो है जरूर, किन्तु उसमें जल के स्रोत का निशान तक भी नहीं है, वह मानो अपने सेवार के गुच्छों के साथ [illegible] होकर शरीर फैलाये पड़ी-पड़ी यही सोच रही है कि यदि न चलने से भी काम चलता है

तो फिर चलने की जरूरत ही क्या है। जल के बीच-बीच जो लम्बी घास और जल उद्भिद् पैदा हो गये हैं, वे सब बिलकुल स्थिर हैं। मछुए कभी मछली मारने के लिए नदी में जाल डालने नहीं आते, इसलिये उनको हिलना-डुलना नहीं पड़ता। पाँच छः बड़ी-बड़ी नावें कतारों में बँधी हुई हैं—इनमें से एक की छत के ऊपर एक मल्लाह सिर से पैर तक कपड़ा ओढ़े धूप में सोया हुआ है; एक दूसरी छत पर दूसरा मल्लाह बैठा हुआ रस्सी बँटता हुआ धूप खा रहा है। डाँड के पास एक अधेड़ आदमी नंगे शरीर बैठा हुआ है और हमारे बोट की तरफ अकारण ही देख रहा है। किनारे जमीन पर तरह-तरह के बहुत से लोग अत्यन्त धीमी और शिथिल चाल में किसलिए आ रहे हैं, किसलिए जा रहे हैं, क्यों अपनी छाती में दोनों घुटनों को सटाये हुए सिर झुकाये बैठे हैं, क्यों अवाक् होकर विशेष किसी चीज की तरफ देखे बिना खड़े हैं, इसका कोई अर्थ समझ में नहीं आता। केवल गिने-गिने कुछ [illegible] की उसमें चञ्चलता दिखाई पड़ रही है। वे बहुत ही कलरव कर रहे हैं, और [illegible] साथ जल में सिर डुबा रहे हैं, फिर तुरन्त ही अपने सिर ऊपर उठाकर जोरों से उन्हें झाड़ रहे हैं। ठीक ऐसा मालूम हो रहा है कि मानो वे जल के नीचे के निगूढ़ रहस्य का आविष्कार करने के लिए प्रतिक्षण अपनी गरदन आगे को बढ़ा रहे हैं और उसके बाद तेज धार से सिर हिलाते हुए कह रहे हैं—कुछ भी नहीं, कुछ भी नहीं। यहाँ के सभी दिन इसी प्रकार बारह घण्टे पड़े-पड़े केवल धूप सेवन करते हैं, और बाकी बारह घण्टे खूब घने अन्धकार को ओढ़कर लगातार सोते रहते हैं। यहाँ का पूरा [illegible], [illegible] की तरह [illegible] हुआ। [illegible] मन के [illegible] को [illegible] कर रहा है, [illegible] थोड़ी-थोड़ी [illegible] [illegible], [illegible] है। [illegible] नदी में [illegible] किसी [illegible] ही रहती है। जिस तरह [illegible] के गोबर का सारा

समय, पीठ पर धूप-सेवन करती हुई, बच्चे को गोद में लेकर गुनगुनाती हुई हिलाती रहती है, ठीक वही दशा हो जाती है।

●

१५

शिलाइदह(?)
७ माघ १८९१

छोटी नदी यहाँ आकर जरा टेढ़ी हो गयी है। नाव वाले उत्तर तरफ से गुन खींचते-खींचते आते हैं। हठात् एक मोड़ को पार करते ही, इस निर्जन मैदान के पास अकारण ही एक बहुत बड़ा बोट बँधा हुआ देखकर आश्चर्य में पड़ जाते हैं। "हाँ जी, यह किसका बजड़ा है? जमींदार बाबू का है क्या? यहाँ क्यों लाया गया है? कचहरी के सामने क्यों नहीं बाँधा है। क्या यहाँ हवा खाने के लिए आये हैं?"

मैं यहाँ आया हूँ हवा की अपेक्षा बहुत अधिक जरूरी काम के लिए। जो भी हो, ऐसे प्रश्नोत्तर प्रायः बीच-बीच में सुनाई पड़ते हैं। अभी-अभी भोजन करके बैठा हूँ, इस समय दिन के डेढ़ बजे हैं, बोट खोल दिया गया है, धीरे-धीरे कचहरी की तरफ जा रहा है। खूब अच्छी हवा लग रही है। विशेष ठण्डक नहीं है। दोपहर की गरमी से कुछ गरमी बढ़ गयी है। बीच-बीच में घने सेवारों पर बहुत से छोटे-छोटे कछुए आकाश की तरफ अपनी पूरी गरदन उठाये धूप खा रहे हैं। बहुत दूर-दूर पर एक-एक छोटा-छोटा गाँव मिल रहा है। कितनी ही फूस की झोंपड़ियाँ, कितनी ही [illegible] मिट्टी की दीवारें मिलीं, दो-चार फूस के ढेर मिले, बेर के पेड़, बट के पेड़, बाँसों की झाड़ियाँ मिलीं, तीन चार बकरियाँ चरती हुई दिखाई पड़ीं, [illegible] दिखाई पड़ीं, नदी के जल तक बना हुआ घाट मिला और घाट पर

दिखाई पड़ा—कोई नहा रहा है, कोई कपड़े साफ कर रहा है, कोई बरतन माँज रही है, कोई कोई लज्जावती बहुएँ दो अंगुल का घूँघट जरा सरका कर बगल में घड़ा दबाये जमीदार बाबू को कौतुक के साथ निरीक्षण कर रही हैं। उसके घुटने के पास उसका आँचल पकड़े तुरन्त नहा-धोकर तेल लगा चिकना शरीर लिये नंग-धड़ंग एक बच्चा भी, वर्तमान पत्रलेखक के सम्बन्ध में अपना कौतूहल निवारण कर रहा है। नदी के किनारे कुछ नावें बँधी हुई हैं और एक परित्यक्त पुरानी मछली मारने की डोंगी टूटी-फूटी अवस्था में पुनरुद्धार की प्रतीक्षा कर रही है। उसके बाद बहुत दूर एक शस्य-शून्य मैदान है, बीच बीच में केवल दो चार चरवाहे बालक दिखाई पड़ते हैं, और दो चार गायें नदी के ढालू तट के आखिरी छोर तक आकर सरस घास की खोज में घूमती हुई दिखाई पड़ती हैं। यहाँ की दुपहरी की तरह निर्जनता, निस्तब्धता और कहीं भी नहीं है।

●

१६

कालिग्राम
जनवरी १८९१

कल जिस समय मैं कचहरी के कामकाज देख-सुन रहा था, उसी समय पाँच छः लड़के हठात् अत्यन्त [illegible] से मेरे सामने आ खड़े हुए। उनसे मैं कोई प्रश्न पूछ भी नहीं सका था कि उन्होंने बिलकुल ही विशुद्ध भाषा में बोलना शुरू किया—

'पिता, इन अभागे बालकों के सौभाग्यवश जगदीश्वर की कृपा से पुनर्वार इस देश में शुभागमन हुआ है।' इसी तरह आध घंटे

तक वे लोग अपना भाषण कर गए, कण्ठस्थ की हुई अपनी वक्तृता के बीच में वे भूलते जा रहे थे, फिर आकाश की तरफ देखकर उसमें संशोधन करते जा रहे थे। उनके कथन का विषय था—उनके स्कूल में बेञ्चों और स्टूलों की कमी पड़ गयी है। काष्ठासनों के अभाव से हमलोग कहाँ बैठें, निरीक्षक महोदय का आगमन होने पर उनको कहाँ बैठने की जगह दी जाय।"

छोटे बालक के मुँह से हठात् यह अनर्गल बातें सुनकर मुझे बड़ी हँसी आ रही थी। विशेषतः इस जमींदारी कचहरी में, जहाँ अशिक्षित किसान बिलकुल ही देहाती बोली में अपनी यथार्थ दरिद्रता और अपने यथार्थ दुखों को बताते हैं, जहाँ अतिवृष्टि से, दुर्भिक्ष से, गाय-बैल, बछड़े, हल, जुआठ बेच डालने पर भी उदरान्न न जुटने की बात सुनाई पड़ती रहती है, जहाँ 'अहरह' शब्द के बदले में 'रहरह', 'अतिक्रम' के स्थान पर 'अतिक्रय' का व्यवहार होता है, वहाँ स्कूल और बेञ्चों के अभाव में संस्कृत-वक्तृता ऐसी ही अद्भुत सुनाई पड़ती है। दूसरे सब कर्मचारी और प्रजागण इस छोकड़े का, भाषा के ऊपर ऐसा दखल देखकर अवाक् हो गये थे। वे मन ही मन आक्षेप कर रहे थे—'हमारे पिता-माता ने हमें यत्नपूर्वक लिखना पढ़ना नहीं सिखाया, नहीं तो हमलोग भी जमींदार के सामने खड़े होकर ऐसी ही शुद्ध भाषा में निवेदन कर सकते थे।"

मैंने सुना, उनमें से एक अपने दूसरे साथी को ठेलकर विद्वेष के भाव से कह रहा था—"इसे किसी ने सिखा दिया है"। उसकी वक्तृता समाप्त होने के पहले ही मैंने उसे रोककर कहा—'अच्छा, मैं तुमलोगों के लिए स्टूल-बेञ्चों का बन्दोबस्त कर दूँगा।' इससे भी वह नहीं रुका। उसने जहाँ अपनी वक्तृता भंग कर दी थी, उसी जगह से फिर शुरू कर दिया—यद्यपि और कुछ बोलने की आवश्यकता नहीं थी, तथापि अपनी अन्तिम बातों को समाप्त कर प्रणाम करके

अपने घर चला गया। बेचारा बड़े कष्ट से कण्ठस्थ कर आया था, यदि मैं उसके लिए स्टूल-बेञ्चों की मञ्जूरी न करता तो वह व्यथित नहीं होता, किन्तु उसकी वक्तृता छीन लेने पर शायद यह उसके लिए असह्य अवस्था हो जाती। इसीलिए यद्यपि मेरे सामने बहुत से जरूरी काम पड़े हुए थे, तो भी मैंने खूब गम्भीर भाव से आदि से अन्त तक सब सुन लिया।

●

१७

काली ग्राम
जनवरी १८९१

यह जो बहुत बड़ी पृथ्वी चुपचाप पड़ी हुई है, इसे हम कितना प्यार करते हैं! इसे देखते ही इच्छा होती है कि इसके पेड़-पौधों, नदी-मैदानों, इसकी कोलाहल-रहित निस्तब्धता, इसकी प्रभात-सन्ध्या के साथ ही इसे अपने दोनों हाथों से जकड़ रखूँ। मन में यह विचार उठता है कि पृथ्वी से हमें जो धन-राशि मिली है, इस तरह की धन-राशि क्या हमें किसी स्वर्ग से मिल सकती है? स्वर्ग और क्या देता, मैं नहीं जानता, किन्तु ऐसी कोमलता-दुर्बलता से परिपूर्ण, ऐसी सकरुण आशङ्काओं से पूर्ण इन मनुष्यों सरीखा धन वह हमें कहाँ से देती। हमारी मिट्टी की माँ ने, हमारी इस पृथ्वी ने, अपने इन सुनहले खेतों में अपनी स्नेह-शालिनी नदियों के किनारे, अपने सुख-दुःखमय प्रेम-भरे लोकालयों के बीच, इन सब दरिद्र मर्त्य-हृदय के आँसुओं के धन को, गोद में छिपा लिया है। हम अभागे उन लोगों को बचा नहीं सकते, उनको रख नहीं सकते, नाना प्रकार की अदृश्य शक्तियाँ आकर हमारी छाती के पास से उन्हें छीन-छीन ले जाती हैं, किन्तु

बेचारी पृथ्वी में जितना सामर्थ रहा, उतना तो उसने कर ही डाला है। मैं इस पृथ्वी को बहुत प्यार करता हूँ। इसके मुँह पर एक बहुत भारी विषाद छाया हुआ है, मानो इसके मन में यही भाव छिपा हुआ है—'मैं हूँ देवता की लड़की, किन्तु देवता की शक्ति मुझमें नहीं है; मैं प्यार करती हूँ किन्तु रक्षा नहीं कर सकती, मैं आरम्भ करती हूँ किन्तु पूरा नहीं कर सकती, मैं जन्म देती हूँ किन्तु मृत्यु के हाथ से बचा नहीं सकती।' इसी कारण स्वर्ग से होड़ करके मैं अपनी दरिद्र माता के घर को और भी अधिक प्यार करता हूँ। क्योंकि यह इतनी असहाय है, असमर्थ है, असम्पूर्ण है, कि प्रेम-प्यार की सहस्र आशङ्काओं से हृदय चिन्तित है—व्यथित है।



१८

शाहजादपुर के निकट
१२ माघ १८६१

अभी तक रास्ते में ही हूँ। भोर से ही यात्रा शुरू हुई है। नदी मार्ग से लगातार चलते-चलते सन्ध्या सात आठ बजे तक चला ही जा रहा हूँ। हमारी गति में एक तरह का आकर्षण है—दोनों तरफ की तट-भूमि लगातार आँखों के सामने से सरकती चली जा रही है, सारा दिन यही देखता रहा हूँ। किसी प्रकार भी इससे अपनी आँखों को हटा नहीं सकता। पढ़ने में मन नहीं लगता, लिखने में तबीयत नहीं जमता, कोई भी काम नहीं है, केवल चुपचाप ताककर हुआ बैठा हूँ। केवल दृश्य की विचित्रता देखकर ही मन लगता है, दूसरी कोई बात नहीं है। सम्भवतः दोनों किनारों पर कुछ भी नहीं है, केवल वृक्षविहीन रेखामात्र ही चली गयी है, किन्तु उसका चलना बराबर

जारी है, यही है उसका प्रधान आकर्षण ! मेरी अपनी कोई चेष्टा नहीं है, मेरा अपना कोई परिश्रम नहीं है, फिर भी बाहर की एक सतत गति, मेरे मन को बहुत ही मृदु प्रशान्तभाव से व्याप्त कर रखती है। मन को परिश्रम भी नहीं है, विश्राम भी नहीं है, ऐसा ही एक भाव है। कुर्सी पर बैठे-बैठे आलस्यपूर्ण अन्यमनस्क भाव से जैसे पैर हिलाते रहना जारी रहता है, ठीक ऐसी ही यह दशा भी है। शरीर तो मोटे तौर से विश्राम कर रहा है, फिर भी शरीर का जो अतिरिक्त उद्यम किसी भी समय स्थिर नहीं रहना चाहता, उसी को, एक ही किस्म का काम देकर उसे भुलावे में रख दिया गया है। अपने कालिग्राम को, उस मुमूर्षु नाड़ी की तरह अतिक्षीण स्रोतवाली नदी को, कल ही एक समय छोड़ आया हूँ। उस नदी से चलते-चलते धीरे-धीरे हमें एक स्रोतवाली नदी में आ जाना पड़ा। उसी से नाव चलाते-चलाते एक ऐसे स्थान में पहुँच गया जहाँ नदी के करारे और जल एक साथ मिलकर एकाकार हो गये हैं। नदी और तट दोनों के आकार-प्रकार का भेद क्रमशः दूर होता जा रहा है, कम उम्र के दो भाई-बहनों की तरह। तट और जल दोनों की ऊँचाई समान है, कहीं करारा नहीं है। क्रमशः नदी का वह पतला दुबला आकार भी नहीं रहा, विभिन्न दिशाओं में, कई भागों में विभक्त होकर वह क्रमशः चारों तरफ फैल गयी है। कहीं कुछ हरी घास दिखाई पड़ती, तो कहीं कुछ स्वच्छ जल दिखाई पड़ता है। देखते ही पृथ्वी की शैशवावस्था याद पड़ गयी। जब कि असीम जलराशि के बीच स्थल ने अपना माथा ऊपर उठा लिया था और जल-स्थल का अधिकार निर्धारित नहीं हुआ था, मैंने देखा कि चारों तरफ मछुओं के बाँस गड़े हुए हैं, मछुओं [illegible] मारकर मछली छीन ले जाने के लिए चीलें [illegible] हैं। [illegible] निरीह बगुला खड़ा है, तरह-तरह के [illegible] रहे हैं, [illegible] सेंवार [illegible], कहीं [illegible]

में बिना देखभाल के उगे हुए धान के पौधे हैं, स्थिर जल के ऊपर झुण्ड के झुण्ड मच्छड़ उड़ रहे हैं। भोर में बोट को चलाकर हम काँचीकाठा जा पहुँचे। वहाँ नदी बारह-तेरह हाथ सङ्कीर्ण नहर की तरह बन गयी थी, जो क्रमशः टेढ़ी-मेढ़ी होकर प्रबलवेग से बह रही थी। इसमें अपने इस प्रकाण्ड बोट को लाने से भयङ्कर अवस्था उत्पन्न हुई। जल का स्रोत बिजली की तरह बोट को खींचता हुआ ले जाने लगा, खेने वाले मल्लाह हाथ में लग्गी लिये उसे सम्हालने की चेष्टा करने लगे, डर था कि करारे के साथ बोट की टक्कर न लग जाय। इधर सनसनाती हुई हवा बह रही थी, घने बादल छाये हुए थे, रह-रहकर वर्षा की झड़ियाँ लग जाती थीं, जाड़े से सभी काँप रहे थे। किसी तरह हम खुली नदी में पहुँच गये। जाड़े की ऋतु में वर्षा का भीगा दिन बहुत ही भद्दा मालूम होता है। इसीलिए प्रातःकाल मैं अत्यन्त निर्जीव-सा हो गया था। दिन के दो बज जाने पर धूप निकल आयी। उसके बाद साफ सुन्दर दृश्य हो गया। खूब ही ऊँचे करारों पर दोनों तरफ पेड़-पौधे थे, लोगों के मकान थे, जो बहुत ही शान्ति-प्रद, बहुत ही सुन्दर थे। दोनों तरफ स्नेह-सौन्दर्य वितरण करती हुई नदी टेढ़ी-मेढ़ी होकर चली गयी थी, यह हमारे बंग-देश की अपरिचित देहाती भाग से बहने वाली एक नदी है। केवल स्नेह, कोमलता और मधुरता से परिपूर्ण है। इसमें चाञ्चल्य नहीं है, सो भी अवकाश इसे नहीं है। गाँव की जो स्त्रियाँ घाट पर जल लेने आती हैं और जल के पास बैठकर बड़े ही यत्न से अँगौछे से अपना शरीर पोंछती-रगड़ती हैं, उनके साथ इसकी मानों प्रतिदिन मन की बातें और घरेलू काम-धन्धे की बातें होती रहती हैं।

आज सन्ध्या के समय नदी के मोड़ के मुहाने के पास एक बहुत ही निर्जन जगह में बोट लगा दिया गया था। पूर्णिमा का चन्द्रमा उगा हुआ था, जल में एक भी नाव नहीं थी— चाँदनी जल के

ऊपर चमक-झलक रही थी—रात्रि साफ थी, तट निर्जन था, बहुत दूर घने वृक्षों से घिरा हुआ गाँव निद्राच्छन्न-सा था, केवल झींगुरों की बोली सुनाई पड़ रही थी, और कोई आवाज नहीं थी।

●

२९

शाहजादपुर
फरवरी १८९१

मेरे सामने तरह-तरह के ग्रामीण दृश्य दिखाई पड़ते हैं, उन्हें देखने में मेरी विशेष रुचि रहती है। ठीक मेरी खिड़की के सामने नहर के उस पार, बेदे जाति के कुछ लोग खूँटों पर कुछ टाट और कपड़े टाँग कर उनके ही भीतर रह रहे हैं। छोटे-छोटे कई खेमों की तरह ये हैं। उनमें मनुष्य के खड़े होने की गुञ्जाइश नहीं है। उन घरों के बाहर ही उनकी गृहस्थी के सारे [illegible] केवल रात के समय सभी मिलकर किसी तरह गट्ठर की तरह बनकर उनके अन्दर सोने के लिए चले जाते हैं। बेदे जाति के लोगों का स्वभाव ही ऐसा है। कहीं इनके घरबार नहीं होते, किसी जमींदार को ये लगान नहीं देते, केवल कुछ सूअर, दो चार कुत्ते और कुछ लड़के-लड़कियों को साथ लिये, ये लोग जहाँ तहाँ घूमते-फिरते हैं। पुलिस इनके ऊपर सदा सतर्क दृष्टि रखती है। हमारे निकटस्थ स्थान में यहाँ जो आये हैं, खिड़की के पास खड़े होकर प्रायः इनके काम-काज देखता रहता हूँ। ये लोग देखने में कोई भयानक नहीं हैं। बहुत कुछ हिन्दुस्तानी किस्म के हैं, शरीर का रङ्ग काला तो है जरूर, किन्तु सौन्दर्य खूब है, खूब बलिष्ठ सुगठित शरीर है। इनकी स्त्रियाँ भी देखने में सुन्दर हैं, पतली, छरहरी, हँसमुख, बहुत अंशों में अंग्रेज [illegible] की

तरह, शरीर को ढँकने न ढँकने की स्वतन्त्रता है, अर्थात् इनके चाल-चलन में बिलकुल सङ्कोच नहीं है, चलने-फिरने में सहज, सरल, शुद्ध भाव मौजूद है—मुझे तो ठीक यही मालूम होता है, कि ये काले अंग्रेजों की स्त्रियाँ हैं। मैंने देखा—पुरुष रसोई पका रहा है, और साथ ही बाँस चीर-चीरकर, टोकरी, डलिया, दौरी, सूप आदि तैयार कर रहा है; स्त्री ने अपनी गोद में एक छोटा-सा आईना रखकर, बहुत ही सावधानी से एक अँगोछा भिगोकर अपने मुँह को विशेष यत्न के साथ दो तीन बार पोंछ डाला, उसके बाद अपना आँचल और कपड़ा खींच-खाँचकर ठीक-ठाक करके बहुत ही ठाट-बाट से पुरुष के सामने झुककर बैठ गयी, फिर काम-काज में कुछ-कुछ मदद देने लगी।

ये लोग बिलकुल ही मिट्टी की सन्तान हैं। पृथ्वी के साथ बिल-कुल ही चिपटे हुए हैं—जहाँ जन्म लेते हैं, वहीं रास्ते में ही पाले-पोसे जाकर बढ़ते जाते हैं, जहाँ-तहाँ मर जाते हैं। इनकी ठीक अवस्था क्या है, इनके मन का भाव ठीक क्या है, यह जान लेने की इच्छा होती है। दिन-रात खुले आकाश में, खुली हवा में, खुली जमीन पर ये एक नये प्रकार के जीव हैं, फिर भी इसी में काम-काज, प्यार-स्नेह, [illegible], घर-गृहस्थी सब कुछ ही है। किसी को एक क्षण के लिए भी मैंने चुपचाप निकम्मा बनकर बैठा हुआ नहीं देखा। एक न एक काम उनके पीछे लगा ही है। जब हाथ का काम पूरा हो गया, तब झट से एक स्त्री दूसरी स्त्री की पीठ के पास बैठकर उसका झोंटा खोल-कर बड़े ही ध्यान के साथ बालों में [illegible] निकालने लगती और सम्भवतः उन छोटे-छोटे तीन लोगों की घर-गृहस्थी के सम्बन्ध में एक-एक करके चर्चा छिड़ जाती है—ठीक क्या विषय था, यह दूर से मैं ठीक-ठीक बता नहीं सकता, किन्तु [illegible] अनु-मान से समझा जा सकता है। आज सबेरे इस [illegible] परिवार में बहुत ही अशान्ति उत्पन्न हो गयी थी। उस समय साढ़े आठ या

नौ बजे रहे होंगे। जिस कथरी और फटे चिथड़ों पर रात को वे लोग सोते थे, उन्हें निकाल कर उन्होंने चटाई की छाजन पर धूप में भली-भाँति सुखाने के लिए पसार दिया था। सूअरों ने अपने बच्चों के साथ एक दूसरे के शरीर से लिपट कर एक स्थान में गड्ढा-सा बना दिया था और उसमें बहुत-सा कीचड़ जमा हो गया था। सारी रात जाड़े में ठिठुरते रहने के बाद प्रातःकाल की धूप में ये वहाँ बहुत कुछ आराम अनुभव कर रहे थे। उन्हीं लोगों के पाले हुए दो कुत्ते एकाएक आकर उन सूअरों की गरदनों पर टूट पड़े और उन्होंने उन्हें उस जगह से उठा दिया। रङ्गिश भरी आवाज से चिग्घाड़ते हुए वे चारों तरफ इधर-उधर चले गये। मैं अपनी डायरी लिख रहा था और बीच-बीच में सामने के रास्ते की तरफ अन्यमनस्क होकर देख रहा था। ऐसे ही समय में बड़े जोरों का हल्ला-गुल्ला सुनाई पड़ा। मैं उठकर खिड़की के पास चला गया। मैंने देखा कि 'बेदे' लोगों के खेमों के पास बहुत से लोग जमा हो गये हैं। उन्हीं में से एक भले आदमी-से दिखाई पड़ने वाले सज्जन छड़ी उछालते हुए खूब गालियाँ दे रहे थे। 'बेदे' लोगों का सरदार अत्यन्त भयग्रस्त होकर काँपती हुई आवाज से कैफियत देने की चेष्टा कर रहा था। मैं समझ गया कि किसी तरह के सन्देह का कारण पाकर पुलिस का दारोगा आ पहुँचा है और उपद्रव मचा रहा है। स्त्री बैठी हुई थी और मन लगाकर बाँस की पट्टियाँ छील रही थी, मानो वह अकेली बैठी हुई हो, और कहीं भी कोई गड़बड़ी नहीं है। एकाएक वह उठ खड़ी हुई और परम निर्भीक चित्त से दारोगा के मुँह के सामने बार-बार हाथ फटकारती हुई वह अपनी वक्तृता सुनाने लगी। देखते-देखते दारोगा का रोब प्रायः बारह आने परिमाण में घट गया। उसने बहुत ही नम्रता से बोलकर बातें करने की चेष्टा की, किन्तु जरा भी सफलता उसे नहीं मिली। वह जिस शान के साथ आया था, उस शान को बहुत कुछ खत्म कर उसे वहाँ

से धीरे-धीरे चला जाना पड़ा। बहुत दूर जाने के बाद उसने ऊँचे स्वर से कहा—"मैं यह कहे जाता हूँ, तुम लोगों को यह जगह छोड़कर चला जाना पड़ेगा।" मैंने सोचा कि अब तो मेरे ये पड़ोसी अपना डेरा-डण्डा उठाकर स्त्री-बच्चों और सूअर-कुत्तों के साथ अपना सामान-असबाब लिये तुरन्त ही अन्यत्र के लिए प्रस्थान करेंगे, किन्तु इसका कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ा। मैंने देखा अभी तक वे लोग निश्चिन्त भाव से बैठे-बैठे बाँस काट रहे हैं, चीर रहे हैं, रसोई पका रहे हैं, स्त्रियाँ जूँ निकाल रही हैं।

अपनी इस खुली खिड़की से मुझे तरह-तरह के दृश्य दिखाई पड़ते हैं। यह देखना मुझे बहुत अच्छा लगता है—किन्तु कोई-कोई दृश्य देखकर, मन बहुत ही बिगड़ जाता है। जब मैं यह देखता हूँ कि बैल-गाड़ी पर अत्यधिक बोझ लाद दिया गया है, और गाड़ीवान बैलों को राह चलने में उसे असक्त बनाकर उन पर डण्डों से प्रहार कर रहा है, तब यह दृश्य मुझे बहुत ही असह्य मालूम होता है। आज सबेरे मैंने देखा, एक स्त्री अपने एक छोटे नंगे बच्चे को इस नहर में नहलाने के लिए ले आयी। आज कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा है। बच्चे को जल में खड़ा करके जब वह उसके शरीर पर जल डालने लगी, तब वह करुण स्वर से रोने लगा और काँपने लगा, भयङ्कर खाँसी से उसका गला खर-खर कर रहा था। उस स्त्री ने हठात् उसके गाल पर एक ऐसा थप्पड़ लगा दिया, कि उसकी आवाज मुझे अपने कमरे से सुनाई पड़ी। बच्चा झुककर अपने घुटनों पर दोनों हाथ रख फूट-फूटकर रोने लगा। खाँसी-खाँसी से उसकी रुलाई रुकती जा रही थी। उसके बाद वह स्त्री भीगे शरीर से उस नंगे काँपते हुए बच्चे की कलाई पकड़कर अपने घर की तरफ घसीटती हुई ले गयी। यह घटना मुझे बहुत ही पैशाचिक मालूम हुई। बच्चा बिलकुल ही छोटा था, सम्भवतः मेरे बच्चे का ही समवयस्क था। ऐसा दृश्य देखने से हठात् मनुष्य

के विचार पर आघात लग जाता है, विश्वस्त चित्त से चलते-चलते एकाएक एक ठोकर लग जाने की तरह। छोटे बच्चे कितने असहाय होते हैं—उसके प्रति अविचार, अन्याय करने से वे निरुपाय कातरता के साथ रोने लगते हैं और निष्ठुर हृदय को और भी विरक्त बना देते हैं। अच्छी तरह अपनी शिकायतें भी नहीं सुना सकते। वह स्त्री जाड़े से बचने के लिए अपना सारा शरीर तो कपड़े से ढँक कर आयी थी, किन्तु बच्चे के शरीर पर एक टुकड़ा कपड़ा भी नहीं था। इसके सिवा वह बच्चा खाँसी से दुःखी था, इसके अतिरिक्त इस डाइन के हाथ से उसे मार भी खानी पड़ी!

●

२०

शाहजादपुर
फरवरी १८९१

यहाँ के पोस्टमास्टर किसी-किसी दिन सन्ध्या के समय आकर डाक के जरिये चिट्ठियों के यातायात के सम्बन्ध में तरह-तरह के किस्से सुनाने लगते हैं। हम जिस मकान में इस समय रह रहे हैं, उसकी निचली मंजिल में पोस्ट आफिस है, इससे मुझे बड़ी सुविधा हुई है, क्योंकि चिट्ठियाँ ज्योंही आती है त्योंही मुझे मिल जाती हैं। पोस्ट-मास्टर की बातें सुनना मुझे बहुत अच्छा लगता है। बहुत ही असम्भव बातें, बहुत ही गम्भीर भाव से वे कह जाते हैं। कल वे कह रहे थे कि, इस देश के लोगों की गङ्गा पर ऐसी भक्ति है कि इनका कोई भी आत्मीय स्वजन मर जाता है तो उसकी हड्डियों को पीसकर वह उसको बचाकर रख लेते हैं। यदि कभी ऐसे आदमी से उनकी भेंट हो जाती है, जो किसी दिन गंगा-जल पी चुका है, तो वे उस आदमी को पान

के साथ हड्डी की बुकनी खिला देते हैं, और समझते हैं कि, उनके आत्मीय को कुछ अंशों में गङ्गा-प्राप्ति हो गयी। यह सुन कर मैंने हँसते हँसते कहा—"यह शायद गल्प-मात्र है।" उन्होंने खूब गम्भीर भाव से सोचकर कहा—"ऐसा हो सकता है।"

२१

शिलाईदह
फरवरी १८९१

कचहरी के दूसरे पार की निर्जन रेती में बोट लगा देने से खूब आराम मिल रहा है। आजका दिन और चारों तरफ का दृश्य, ऐसा सुन्दर मालूम हो रहा है, कि मैं बयान नहीं कर सकता। जान पड़ता है मानो बहुत दिनों के बाद फिर इस बड़ी पृथ्वी के साथ मेरी भेंट-मुलाकात हो गयी है। उसने कहा—"यही तो है।" मैंने कहा—"यही तो"। इसके बाद हम दोनों आसपास बैठ गये। फिर कोई बातचीत नहीं हुई। जल छुलछुल कर रहा है और उसके ऊपर धूप चमक रही है। बालू की रेती धू-धू कर रही है। उसके ऊपर जंगली झौए उगे हुए हैं। जल की आवाज, दोपहर की निस्तब्धता की सनसनाहट, और झउओं की झाड़ियों से दो चार पक्षियों की चहचहाहट—इन सबके मिल जाने से एक स्वप्नाविष्ट भाव बन गया है। खूब लिखते रहने की इच्छा हो रही है—किन्तु और किसी विषय पर नहीं, केवल जल के शब्द, धूप के दिन, और बालू की रेती के बारे में ही लिखना चाहता हूँ। मालूम होता है कि प्रतिदिन ही घूम फिरकर यही बात लिखनी पड़ेगी; क्योंकि, इसी एक बात का मुझे नशा है, मैं बार-बार इस एक ही बात को लिये रहता हूँ। बड़ी-बड़ी

नदियों को पार कर हमारा बोट एक छोटी नदी के मुँह में प्रवेश कर गया है। दोनों तरफ स्त्रियाँ नहा रही हैं, कपड़े साफ कर रही हैं, और भीगे कपड़े का लम्बा घूँघट काढ़कर जल का घड़ा लिये दायाँ हाथ हिलाती हुई, अपने अपने घर जा रही हैं। लड़के कीचड़ पोतकर, जल फेंकते हुए, उछल-कूद मचा रहे हैं, और लड़का बगैर किसी सुर का गाना गा रहा है—"एक बार भैया कहकर गाओ हो लखन।" ऊँचे करारे के ऊपर से, निकटस्थ गाँव की फूस की छाजनों और बाँस की झाड़ियों के सिरे दिखाई पड़ रहे हैं। आज बादलों के फट जाने से धूप दिखाई पड़ने लगी है। जो सब बादल आकाश के छोरपर अभी बचे-खुचे हैं, वे सफेद रुई के ढेर सरीखे दिखाई पड़ रहे हैं। हवा जरा गरम होकर बह रही है। दो-चार छोटी छोटी डोंगियाँ, सूखे पेड़ों की डालियाँ और बाँस की लकड़ी आदि को लादे छपाछप डाँड़ों की आवाज करती हुई चली जा रही हैं। नदी के तटपर बाँसों के ऊपर मल्लाहों के जाल सूख रहे हैं—पृथ्वी के प्रातःकाल के कामकाज थोड़ी देर के लिए बन्द हो गये हैं।

२२

चुहाली जलमार्ग से
१५ जून १८६१

अब मैं पाल तानकर यमुना नदी के बीच से जा रहा हूँ। मेरी बायीं तरफ के खेतों में गायें चर रही हैं, दाहिनी तरफ बिलकुल ही किनारा नहीं दिखाई पड़ता। नदी के तेज स्रोत से तटवर्ती मिट्टी, झुर-झुर शब्दों के साथ खिसकती जा रही है—चारों तरफ जलराशि झुल-झुल—छल-छल आवाज कर रही है, और हवा की सन-सन

आवाज सुनाई पड़ रही रही है। कल सन्ध्या के समय एक रेती पर मैंने बोट लगा दिया था—नदी है छोटी, यमुना की ही एक शाखा है, एक पार में सफेद बालू धू-धू करके जल रहा है, जन-मानव का कोई सम्पर्क नहीं है। दूसरे पार में हरे-भरे अनाज के खेत हैं और बहुत दूरी पर एक गाँव है। और कितनी बार कहूँ—इस नदी के ऊपर, खेतों के ऊपर, गाँवों के ऊपर यह सन्ध्या कितनी सुन्दर है, कैसी सुहावनी है, कितनी प्रशान्त है, कितनी अथाह है। यह केवल स्तब्ध होकर ही अनुभव किया जा सकता है, किन्तु व्यक्त करने को तत्पर होते ही चञ्चल हो जाना पड़ता है। धीरे-धीरे जब अन्धकार में सब अस्पष्ट हो गया, केवल जल की रेखा और तट की रेखा में एक पार्थक्य दिखाई पड़ने लगा, और पेड़, पौधों, झोपड़ों के एकाकार हो जाने से धुँधला जगत् दृष्टि के सामने फैल गया था, तब ठीक मालूम होने लगा था कि, यह सब मानों बचपन में सुनी गयी अद्भुत कहानियों का विचित्र सुन्दर जगत् है। जब कि यह वैज्ञानिक जगत् पूर्णतः गठित नहीं हुआ था, थोड़े ही दिन पहले सृष्टि का आरम्भ हुआ था, प्रदोष की अँधियारी से, और एक भय-विस्मयपूर्ण छम् छम् निस्तब्धता से सारा विश्व आच्छन्न था, जब सात समुद्रों और तेरह नदियों के उस पार मायापुर में परम सुन्दरी राजकन्या चिरनिद्रा में निमग्न थी, जब राजकुमार और वजीर का लड़का अनन्त मैदान में एक असम्भव उद्देश्य मन में लेकर घूम-फिर रहा था—तब ऐसा लग रहा था मानों यह उसी समय का वह अति दूरवर्ती अर्धचेतनामय, मोहाच्छन्न, मायामिश्रित, विस्मृत-जगत् का एक निस्तब्ध नदी तट है, और यह भी मन में सोचा जा सकता है कि, मैं ही वह राजकुमार हूँ - एक असम्भव की प्रत्याशा में सन्ध्या-समय में घूमता-फिरता हूँ। यह छोटी नदी उन्हीं तेरह नदियों में से एक नदी है, अभी सात समुद्र बाकी हैं, अभी बहुत दूर है, बहुत सी घटनाएँ हैं, बहुत कुछ अन्वेषण बाकी है।

अभी कितने ही अज्ञात नदी तटों में, कितनी ही अपरिचित समुद्र सीमाओं में, कितनी ही क्षीण चन्द्रालोकित अनागत रातें प्रतीक्षा कर रही हैं। उसके बाद सम्भवतः अनेक भ्रमणों, अनेक रोदनों के बाद हठात् एकदिन मेरी बात खत्म हुई। तब एकाएक यह खयाल हो जायगा कि, अब तक मैं एक कहानी सुना रहा था—अब वह कहानी खत्म हो गयी है, अब बहुत रात बीत चुकी है, अब छोटे बच्चों के सो रहने का समय है।

●

२३

शुद्दाली
१६ जून, १८६१

कल पन्द्रह मिनट बाहर बैठते न बैठते ही पश्चिम तरफ बहुत जोरदार बादल उमड़ आये। खूब काले, गाढ़े, ढीले-ढाले बादल थे, उनके ही बीच कुछ प्रकाश पड़ने से लाल रङ्ग छा गया था। दो-चार नावें तेज गति से यमुना नदी से आकर इस छोटी नदी में प्रवेश कर गयीं और रस्सा-रस्सी आदि जमीन पर रख, लंगर मिट्टी में गाड़ देने के बाद [illegible] से रुक गयीं। जो लोग खेतों में फसल काटने आये थे, वे फसल का एक-एक बोझा माथे पर लेकर अपने घरों की तरफ तेजी से जाने लगे, गाय-बैल-पशु भी घर की तरफ दौड़ पड़े, उनके पीछे-पीछे बछड़े पूँछ हिलाते हुए भाग-भाग [illegible] भी शोर करने लगे। थोड़ी देर बाद एक [illegible] सुनाई दी, कुछ छिन्न-भिन्न बिखरे हुए बादल भग्न-दूत की तरह, दूर पश्चिम दिशा से लम्बी साँस लेते हुए दौड़ आये—उसके बाद बिजली की कड़क, गरज, आँधी-पानी सभी ने एक ही साथ आकर एक तरह का

तुर्की नाच नाचना शुरू कर दिया। बाँसों की झाड़ियाँ हनहन शब्द करती हुई एक बार पूरब तरफ फिर पश्चिम तरफ झुक-झुक कर लोट-पोट होने लगीं। आँधी मानो साँसाँ करती हुई सँपेरे की तरह बंसी बजाने लगी, और जल की तरंगे लाखों साँप की तरह ताल-ताल पर नृत्य करने लगीं। कल कैसी अवस्था उत्पन्न हुई थी, उसका वर्णन मैं नहीं कर सकता। बिजली का तड़पना तो रुकता ही नहीं था, मालूम होता था कि आकाश में कहीं पर कोई समूचा जगत् टूट-फूटकर चूर होता जा रहा है। बोट की खुली खिड़की पर मुँह रख प्रकृति के उस रुद्र ताल के साथ, बैठा-बैठा मैं भी अपने मन को आन्दोलित कर रहा था। मन का समस्त भीतरी हिस्सा, मानो स्कूल से छुट्टी पाये हुए छात्र की तरह बाहर की तरफ कूद जाने को तैयार हो गया था। अन्त में वर्षा की बौछारों से जब अच्छी तरह भीग जाने की सी हालत हो गयी, तब खिड़की और कविता को बन्दकर, पिंजड़े के चिड़िया की तरह अँधेरे में चुपचाप बैठ रहा।

२४

शाहजादपुर
जलमार्ग से
२० जून १८९१

कल टेलीग्राम का उत्तर पाकर, अपने सभी काम-काज कर चुकने पर सन्ध्या को मैंने नाव खोल दी। आकाश में बादल नहीं थे, चन्द्रमा उगा था, कुछ-कुछ हवा बह रही थी, मल्लाह झूम झूम डाँड़ फेंकता हुआ छोटी नदी में नाव चलाने लगा। चारों तरफ परिस्तान का सा दृश्य दिखाई पड़ रहा था। उस समय दूसरी सभी नावें, किनारे पर नाव को रस्सी

बाँध, पाल समेट, चाँदनी में मानो सोयी पड़ी थीं। अन्त में छोटी नदी जहाँ जाकर यमुना में प्रवेश करती है, उसके ही निकट एक निरापद स्थान में नाव लगा दी गयी। किन्तु निरापद स्थान के भी बहुत से दोष रहते हैं; वहाँ हवा नहीं मिलती—घिरे हुए स्थान में रहना पड़ता है, दूसरी नावों के पास रहना पड़ता है, जंगल की गन्ध आती रहती है, इसी तरह की और भी बहुत-सी बातें रहती हैं। मैंने मल्लाह से कहा—इस पार हवा न मिलेगी, उस पार चल। उस पार ऊँचा करारा नहीं था, जल, स्थल दोनों ही समान थे, यहाँ तक कि धान के खेतों के ऊपर घुटने भर जल भर गया था। मल्लाह ने वहीं ले जाकर नाव बाँध दी। उस समय हमारे पीछे की तरफ आकाश में बिजली का कुछ-कुछ चमकना शुरू हो गया था। मैं बिछौने पर चला गया, खिड़की के पास मुँह रखकर खेतों की तरफ ताकने लगा। ऐसे ही समय में लोगों के मुँह से सुनाई पड़ा—'तूफान आ रहा है। गौन गिरा दे, लंगर गिरा दे, यह कर, वह कर।' यही गप करते-करते एक प्रलय सरीखा तूफान [illegible]। [illegible] लगा—'डरो मत भाई, अल्ला... [illegible]।' [illegible] सभी अल्लाह-अल्लाह [illegible] बोट के दोनों तरफ के परदे हवा से पछाड़ खा-खाकर आवाज करने लगे। हमारा बोट एक सिकड़ी से बँधी चिड़िया की तरह डैने फड़-फड़ाकर छटपट करने लगा। रह-रहकर तूफान गड़गड़ाहट की आवाज [illegible] चील की तरह टूट पड़ा और बोट की चोटी पकड़ कर झपेटा मारता हुआ उसे फाड़कर ले जाना चाहा। [illegible]। बहुत देर बाद वर्षा होने लगी और तूफान बन्द हो गया। मैं हवा खाना चाहता था। हवा ने मुझे अच्छी तरह [illegible], आशा से बहुत अधिक। मानो कोई [illegible] कह रहा था—"[illegible] हवा खा लो, उसके बाद साथ मिट जाने पर कुछ [illegible],

उससे पेट इतना भर जायगा कि भविष्य में फिर कुछ खाना न पड़ेगा।' हमलोग शायद रिश्ते में प्रकृति के नाती लगते हैं, इसीलिये कभी-कभी वह हमलोगों के साथ मजाक किया करती है। मैं तो पहले ही कह चुका हूँ, कि यह जीवन एक गम्भीर व्यंग्य-स्वरूप है, इसका मजा समझना जरा कठिन है, क्योंकि जिसको लेकर मजा किया जाता है, वह उस मजा के रस को अच्छी तरह ग्रहण नहीं कर सकता, मानो सोच लो कि आधी रात को खाट पर हम लोग सोये हुए हैं। सहसा पृथ्वी ने पकड़ कर हमें इस तरह हिलाना शुरू किया कि किसी को कहीं भाग जाने का रास्ता ही नहीं मिला। यह घटना नयी किस्म की है और इसका मजा भी खूब आकस्मिक है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। बड़े-बड़े सम्भ्रान्त पुरुषों का अतर्क अवस्था में बिछौना छोड़कर दौड़ने लगना क्या कम कौतुक है। और नींद टूट जाने पर घबड़ाहट में पड़े दो-चार निरीह मनुष्यों के माथे पर मकान की पूरी छत का गिर जाना क्या कोई साधारण मजाक है। कोई अभागा मनुष्य जिस दिन बङ्क का चेक लिखकर मिस्त्रियों का बिल चुका रहा था, उस दिन मनोरञ्जन करनेवाली प्रकृति बैठी-बैठी कैसी हँस रही थी।

●

२५

शाहजादपुर
२२ जून १८९१

आजकल हमारे यहाँ रात के समय ऐसी सुन्दर चाँदनी खिल जाती है, कि मैं उसका क्या वर्णन करूँ। अवश्य ही जहाँ मेरी यह चिट्ठी पहुँचेगी, वहाँ चाँदनी रात नहीं होती, यह कहना मेरा अभिप्राय नहीं है। स्वीकार करना ही होगा कि वहाँ उस मैदान के ऊपर, उस मिलाभर की चूड़ा के ऊपर, सामने के निस्तब्ध पेड़-पौधों के ऊपर,

धीरे-धीरे ज्योत्स्ना अपने नीरव अधिकार का विस्तार करती है, किन्तु वहाँ ज्योत्स्ना के अतिरिक्त भी अन्य पाँच वस्तुएँ हैं—किन्तु यहाँ मेरे लिए इस निस्तब्ध रात्रि के सिवा और कुछ भी नहीं है। अकेला बैठा बैठा मैं इसके अन्दर कैसी अनन्त शान्ति और सौन्दर्य देख पाता हूँ, उसे मैं व्यक्त नहीं कर सकता। कुछ लोग ऐसे हैं, जो यह कहकर छटपटाते रहते हैं कि—'संसार की सारी बातों की जानकारी मुझे क्यों नहीं हो रही है।' दूसरे कुछ लोग ऐसे हैं जो छटपटाकर मरते रहते हैं कि "मैं अपने मन के सभी भाव प्रकट करने में असमर्थ क्यों हो रहा हूँ।' बीच ही में संसार की बातें संसार में ही रह जाती हैं और हृदय की बात हृदय में ही रह जाती है। अपने माथे को हम खिड़की के ऊपर रख देते हैं, हवा प्रकृति के स्नेहपूर्ण हाथ की तरह धीरे-धीरे मेरे बालों में अँगुलियाँ सहला देती है, गंगा कल-कल आवाज करता हुआ बह जाता है, ज्योत्स्ना झलमल-झलमल करती है और बहुधा आँसुओं से आँखें आपही आप डबडबा आती हैं। अधिकांश समय में, मन का आन्तरिक अभिमान जरा स्नेह का स्वर सुनते ही आँसू गिराने लगता है। इस अतृप्त जीवन के लिए प्रकृति के ऊपर जन्म काल से ही हमारा जो अभिमान है, वह अभिमान ज्योंही प्रकृति से स्नेह-सिक्त हो जाता है त्योंही आँसुओं में परिणत होकर चुपचाप झरने लगता है—तब प्रकृति और भी अधिक आदर करने लगती है, हम उसकी गोद में और भी अधिक आवेग के साथ मुँह छिपा लेते हैं।

●

२६

शाहजादपुर
२२ जून १८९१

आजकल दोपहर का समय बहुत ही अच्छा लगता है। धूप से

चारो तरफ खूब चमक बनी रहती है, मन बहुत ही फरफराता रहता है, सिर्फ हाथ में पुस्तक लेकर पढ़ने की ही इच्छा नहीं होती। नदी के किनारे जहाँ नाव लगा दी गयी है, वहाँ से एक तरह की घास की गन्ध और कभी-कभी पृथ्वी की एक गरम भाप शरीर के ऊपर आ लगती है—मालूम होता है कि यह सजीव उत्तप्त पृथ्वी, मेरे अति निकट से निःश्वास फेंक रही है। छोटे-छोटे धान के पौधे हवा में लगातार काँप रहे हैं, बतख जल में उतर कर लगातार अपना सिर उसमें डुबा रहा है और चोंच से पीठ के परों को साफ कर रहा है। और कोई शब्द नहीं है, केवल जल के वेग से जब धीरे-धीरे हिलने लगता है, तब गोन और बोट की सीढ़ी एक तरह की करुणापूर्ण मृदु आवाज करती रहती है। निकट ही उस पार जाने का घाट है। बर के पेड़ के नीचे तरह-तरह के लोग जमा होकर नाव के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं, ज्योंही नाव उस पार से इस पार आ जाती है, त्योंही लोग झटपट उस पर चढ़ जाते हैं। इस तरह नाव से इस पार आने पर, फिर उस पार जाने का दृश्य देखना बहुत अच्छा लगता है। उस पार एक बाजार है, इसलिए यहाँ आर-पार ले जाने वाली नावों पर बहुत भीड़ लगती है। कोई घास का बोझा, कोई टोकरी, कोई बोरा माथे पर या कन्धे पर लादे उस पार जा रहा है और फिर बाजार से वापस आ रहा है। इस छोटी-सी नदी और दोनों पार के दो छोटे गाँवों के बीच निस्तब्ध दोपहर के समय ये ही साधारण कुछ काम-धन्धे, मनुष्य-जीवन का यही थोड़ा-सा स्रोत, बहुत धीरे-धीरे बह रहा है। मैं बैठा बैठा सोच रहा था। हमारे देश के खेत, मैदान, आकाश और धूप में ऐसा एक गम्भीर विषादपूर्ण भाव क्यों लगा रहता है। इसका कारण मुझे नहीं मालूम हुआ कि हमारे देश में प्रकृति ही सबसे अधिक दिखाई पड़ती है—आकाश बादलों से शून्य है, मैदान असीम है, धूप झलझलाता रहा है—दूसरी

मनुष्य अत्यन्त साधारण तुच्छ मालूम होता है। मनुष्य आ रहे हैं और जा रहे हैं, पार ले जाने वाली नाव की तरह दोनों पार आना जाना कर रहे हैं, इनका थोड़ा बहुत कलरव सुनाई पड़ता है। इस संसार के बाजार में छोटे-मोटे सुख-दुःखों के सङ्घर्ष से कुछ हलचल दिखाई पड़ती है, किन्तु इस अनन्त प्रकाण्ड उदासीन प्रकृति में वह मृदु गुञ्जन, वह थोड़ी-सी गीत-ध्वनि, वह दिन-रात के काम-काज कितने मामूली, कितने [illegible] कितनी निष्फल कातरता से परिपूर्ण प्रतीत होते हैं। [illegible] निश्चिन्त, निरुद्देश प्रकृति में ऐसी एक बृहत् सौन्दर्यपूर्ण, निर्विकार, उदार, शान्ति दिखाई पड़ती है, और उसकी ही तुलना में हमलोगों में ऐसी एक पीड़ित, जर्जरित, क्षुद्र, नित्य नैमित्तिक अशान्ति दिखाई पड़ती है, कि अति दूर की नदी, तट-वर्ती छायामय नीली-वनरेखा की तरफ देखते रहने से बिलकुल ही विभोर हो जाना पड़ता है। जहाँ बादलों से, कुहरों से, वर्षा से, अँधियारी से प्रकृति आच्छन्न है, सङ्कुचित है—वहाँ मनुष्य की बड़ी ही प्रभुता रहती है—वहाँ मनुष्य अपनी सभी इच्छाओं, सभी चेष्टाओं को चिरस्थायी समझता है, अपने सभी कामों को चिह्नित करके रख देता है, भविष्य की तरफ ताकता है, कीर्तिस्तम्भ तैयार करता है, जीवन चरित लिखता है, और मृत शरीर के ऊपर भी पत्थरों के चिरस्मरणीय गृह निर्माण करता है। उसके बाद अनेक चिह्न टूट जाते हैं, अनेक नाम विस्मृत हो जाते हैं, किन्तु समयाभाव से, उनकी सुधि किसी को नहीं रहती।

●

२७

[illegible]

तीसरे पहर को मैं यहाँ के गाँव के घाट पर [illegible]

हूँ। बैठा-बैठा देखता रहता हूँ। बहुत से लड़के आपस में मिल-जुलकर खेलते-कूदते रहते हैं। किन्तु मेरे साथ-साथ दिन-रात जो पदातिक सेना लगी रहती है, उनके ऊधम से मेरे मन में सुख नहीं है। लड़कों का खेलना-कूदना उनकी समझ में बेअदबी है। मांझी यदि आपस में खुले मन से हँसी-मजाक या गप्-शप् करते हैं, तो उसे वे राजा का अपमान करना समझते हैं। किसान यदि घाट पर गायों को जल पिलाने के लिए लाते हैं, तो वे उसी क्षण हाथ में लाठी लिये राज-मर्यादा की रक्षा करने के लिए दौड़ पड़ते हैं। अर्थात् राजा के चारों तरफ हास्यहीन, खेलहीन, शब्दहीन, जनहीन, भीषण मरुभूमि बना सकने से ही उनकी रुचि के अनुसार राजसम्मान की रक्षा होती है। कल भी वे लोग लड़कों को खदेड़ने को तैयार हो गये थे, मैंने अपनी राजमर्यादा को तिलाञ्जली देकर उन्हें मना कर दिया। घटना इस प्रकार है—

नदी के किनारे जमीन पर एक बहुत बड़ा नाव का मस्तूल पड़ा हुआ था। कुछ नंग-धड़ंग छोटे-छोटे लड़कों ने आपस में मिलकर विचार किया कि, यदि यथोचित कलरव के साथ उसको ठेलते-ठेलते लुढ़काया जा सके तो एक नवीन और आमोद-जनक खेल बन जायगा। ज्योंही यह खयाल उनके मन में आया, त्योंही कार्य आरम्भ हो गया—'शाबाश जवानो, जोर लगाओ। मारो, ठेलो—ले चलो।' मस्तूल ज्योंही एक चक्कर घूम जाता था, त्योंही सभी उछलकर हँसने लगते थे। किन्तु लड़कों में दो-तीन लड़कियाँ भी शामिल थीं, उनका मनोभाव लड़कों से कुछ भिन्न था। सहेलियों की कमी के कारण लड़कों के साथ मिलने को वे बाध्य हुई थीं, किन्तु श्रमसाध्य उत्कट खेलों में उनका मन नहीं लगता था। एक छोटी सी लड़की बिना कुछ कहे गम्भीर प्रशान्त भाव से मस्तूल के ऊपर जा बैठी। लड़कों का ऐसा प्रिय रोचक खेल मिट्टी में मिल गया। दो चार लड़कों ने सोचा

ऐसी अवस्था में हार मान लेना ही अच्छा है; दूर जाकर वे म्लान चेहरे से उस लड़की की अटल गम्भीरता निरीक्षण करने लगे। उनमें से एक आकर, परीक्षा लेने के बहाने लड़की को ज़रा-ज़रा ठेलने की चेष्टा करने लगा। किन्तु वह चुपचाप निश्चिन्त मन से विश्राम करने लगी। जो लड़का उम्र में सबसे बड़ा था, उसने आकर उसे विश्राम के लिए दूसरा स्थान दिखा दिया। उसने तेज़ी से सिर हिला दिया, अपनी गोद में दोनों हाथों को अच्छी तरह समेट कर ज़रा हिला देने के बाद फिर खूब जमकर बैठ गई। तब उस लड़के ने शारीरिक शक्ति का प्रयोग करना शुरू किया, और अविलम्ब ही सफल हो गया। फिर गगन भेदी आनन्द-ध्वनि उठ पड़ी, फिर मस्तूल लुढ़कने लगा। यहाँ तक कि, थोड़ी देर बाद लड़की भी अपना नारी गौरव और विशेष स्वतन्त्रता त्यागकर कृत्रिम उत्साह के साथ लड़कों की इस अर्थहीन चपलता में शामिल हो गयी। किन्तु खूब समझ में आ रहा था, वह मन ही मन कह रही थी—लड़के खेलने की तरकीब नहीं जानते केवल दुनिया भर का लड़कपन करते हैं! यदि उसके पास घूँघट वाली पीले रङ्ग की मिट्टी की बनी पुतली रहती तो क्या वह इन कच्ची बुद्धि वाले बच्चों के साथ मस्तूल ठेलने की तरह निरर्थक खेल में शामिल होती! ऐसे ही समय में एक और किस्म का खेल उनके ध्यान में आ गया, वह भी खूब मजेदार था। वह था, दो जने मिलकर एक लड़के के हाथ पैर पकड़ कर झुलाना—हिलाना। इसमें निश्चय ही कोई गूढ़ रहस्य था, क्योंकि लड़के बहुत ही खुश हो रहे थे। किन्तु लड़की को यह असह्य मालूम हुआ। वह अवज्ञा के साथ [illegible] घर चली गयी। हठात् एक दुर्घटना हो गयी। जिसको वे लोग झुला रहे थे, वह गिर पड़ा। क्रोध में वह अपने साथियों को छोड़कर बहुत दूर दूसरी जगह चला गया और हाथों के ऊपर माथा रखकर घास की शय्या पर लेट गया। [illegible] अपना यह मनोभाव प्रकट

किया—इस पत्थर सदृश सारे संसार के साथ नहीं अब कोई सम्पर्क न रखेगा, केवल अकेला चित्त होकर लेटा रहेगा और आकाश के तारे गिनता रहेगा, बादलों का खेल देखते-देखते हाथों पर माथा रखे अपना जीवन बिता देगा और "जब तक यह जीवन रहेगा, किसी के साथ न खेलूँगा" इस निश्चय पर दृढ़ रहेगा। असमय में ही उसका ऐसा परम वैराग्य देखकर बड़ा लड़का झटपट दौड़ पड़ा और उसके पास जाकर, अपनी गोद में उसका सिर लेकर अनुनयपूर्ण स्वर में पश्चात्ताप प्रकट करता हुआ कहने लगा—"आओ न भाई, उठो न भाई, चोट ज्यादा लग गयी है क्या भाई?" थोड़ी ही देर में फिर दोनों में, कुत्तों के दो बच्चों की तरह हाथा-हाथी, छीना-झपटी आरम्भ हो गयी—और दो मिनट बीतते न बीतते ही मैंने देखा कि वही लड़का फिर झूलने लगा है। ऐसा ही होती है मनुष्य की प्रतिज्ञा। ऐसा ही है उसका मनोबल! ऐसी ही है उसके मन की स्थिरता! खेल छोड़कर एक बार दूर जाकर चित्त लेट रहता है, फिर पकड़ा जाता है फिर हँसता हुआ मोह के पालने पर झूलने लगता है। इस मनुष्य की मुक्ति कैसे होगी। ऐसे कितने लड़के हैं जो खेलने का घर छोड़कर माथे पर हाथ रखे केवल चित्त ही पड़े रहते हैं—ऐसे भले लड़कों के लिए अमर-धाम में मकान बनाये जा रहे हैं।

●

२८

शाहजादपुर

जून १८९१

कल रात को मैंने एक बहुत ही अद्भुत सपना देखा था। मालूम होता था मानों समूचा कलकत्ता शहर एक भयङ्कर तथा आश्चर्यजनक

भावों से आच्छन्न हो गया है—घर-द्वार सब ही एक अन्धकार-सा काले कुहरे के भीतर से दिखाई पड़ रहा है, और उसके भीतर एक तरह का गुमुल काण्ड चल रहा है। मैं भाड़े की गाड़ी पर सवार हो पार्क स्ट्रीट के भीतर से जा रहा हूँ। जाते-जाते देखा कि सेण्ट-जेवियर कालेज देखते-देखते हू हू करके बढ़ चला और उस अन्धकाराच्छन्न कुहरे में असम्भव ऊँचाई पर पहुँच गया है। उसके बाद धीरे-धीरे मैं जान गया कि कुछ अद्भुत मनुष्य आये हैं, वे लोग रुपया पाने पर किसी युक्ति से ऐसा अद्भुत काम कर सकते हैं। जोड़ा साँकों के अपने मकान पर जाकर मैंने देखा कि वहाँ भी उनका शुभागमन हो गया है। देखने में वे लोग भद्दे हैं, मङ्गोलियन ढाँचे का चेहरा है—पतली मूँछें हैं, दाढ़ी क्या है, दस-बारह बाल मुँह के इधर-उधर टेढ़े-मेढ़े होकर उगे हुये हैं। वे लोग मनुष्यों का आकार बढ़ा सकते हैं। इसीलिए हमारे घर की सभी स्त्रियाँ लम्बी बनने के लिए [illegible] करती हुई [illegible] जमा हो गयी हैं। वे इनके सिर पर एक तरह की [illegible] [illegible] देते हैं और उसके पड़ते ही ये झट से लम्बी हो जाती हैं। मैं [illegible] कहता हूँ—"कैसा आश्चर्य है, यह मानो ठीक [illegible] मालूम होता है।" उसके बाद किसी ने प्रस्ताव किया कि हम लोगों का मकान ऊँचा कर दिया जाय। वे लोग राजी हो गये और मकान का कुछ हिस्सा तोड़ने-फोड़ने लगे। थोड़ा तोड़-फोड़कर करने के बाद वे बोले—"अब हमको रुपये दे दो, नहीं तो मकान के काम में हाथ न लगेंगे।" कुञ्ज मुनीम ने कहा—"यह कैसे होगा, काम पूरा न [illegible] [illegible] कैसे दिये जायेंगे।" यह सुनते ही वे लोग बिगड़ उठे। [illegible] मकान [illegible] टूट-फूटकर [illegible] हो गया, और [illegible] दिखाई [illegible] कि मनुष्य का आधा शरीर दीवार में गुँथा हुआ है और आधा बाहर निकला हुआ है। यह देख सुनकर मालूम हुआ कि ये सब [illegible] [illegible] हैं। बड़े भैया से मैंने कहा—"बड़े भैया, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]! आइये एक बार [illegible]

करें ।" दालान में जाकर खूब एकाग्रमन से हमने उपासना की । बाहर आने पर मैंने सोचा कि ईश्वर का नाम लेकर इन लोगों की भर्त्सना करूँगा—किन्तु मन घबड़ाहट से भर गया तो गले से कोई बात नहीं निकली । उसके बाद कब नींद टूटने से मैं जाग पड़ा ठीक याद नहीं है ! यह एक बहुत ही अद्भुत स्वप्न है । है न ? समूचे कलकत्ता नगर में शैतानों का प्रादुर्भाव हो गया है—सभी उनकी सहायता से बढ़ जाने की चेष्टा कर रहे हैं, एक अन्धकारमय नारकी कुज्झटिका के बीच समस्त शहर की भयङ्कर रूप से श्री-वृद्धि हो रही है । किन्तु उनके इस काम में कुछ परिहास भी था, इतने स्थान रहने पर भी ईसाइयों के स्कूल पर ही शैतानों की उतनी कृपा क्यों हुई ।

....

उसके बाद यहाँ के स्कूल के मास्टर लोग दर्शनाभिलाषी होकर आ पहुँचे । वे लोग किसी तरह उठना नहीं चाहते थे, और मेरे मुँह से कोई बात नहीं निकलती थी । पाँच-सात मिनट के अन्तर में दो—एक बात पूछ लेता था । उसका एकाध उत्तर मिल जाता था, उसके बाद बेवकूफ की तरह बैठा रहता था, कलम हिलाता था, [illegible] ; पूछता था—इस बार यहाँ फसल कैसी हुई है । स्कूल मास्टर [illegible] के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं रखते थे । स्कूल के सम्बन्ध में जो कुछ जानने योग्य विषय थे वे आरम्भ में ही कहे-सुने जा चुके थे । फिर मैंने शुरू की बातों की चर्चा छेड़ दी । मैंने पूछा "आप लोगों के स्कूल में कितने छात्र हैं ।" एक ने कहा—अस्सी हैं; दूसरे ने कहा—नहीं एक सौ पचहत्तर हैं । मैंने सोचा कि लोगों में बहस छिड़ जायेगी । किन्तु मैंने देखा कि [illegible] हो गया ! ठीक डेढ़ घण्टे बाद उनके मन में क्यों ऐसा ख्याल उठा कि "अच्छा अब तो हम चल जाना चाहते हैं" यह ठीक समझना कठिन है । इससे डेढ़ घण्टा पहले भी उनके मन में यह ख्याल उठ सकता था, और [illegible]

मरने के बाद भी उठ सकता था। दिखाई पड़ता है कि इसके अन्दर कोई एक नियम नहीं है, यह अन्धी दैव-घटना मात्र है।

●

२६

शाहजादपुर
४ जुलाई १८९१

हमारे घाट पर एक नाव लगी हुई है, और यहाँ की बहुत-सी 'जन-पद बधुएँ' उसके सामने भीड़ लगाये खड़ी हैं। सम्भवतः उनमें से कोई एक कहीं जा रही है और उसको विदा करने के लिए सभी आ गयी हैं। बहुत से छोटे-छोटे बच्चे, बहुत-सी घूँघट वाली और बहुतेरी पके बालों वाली स्त्रियाँ एकत्र हुई हैं। किन्तु उन सब के बीच एक लड़की है, जिसके प्रति ही मेरा ध्यान सबसे अधिक आकर्षित हो रहा है। शायद उसकी उम्र बारह-तेरह वर्ष की होगी, किन्तु कुछ-कुछ हृष्ट-पुष्ट होने के कारण चौदह-पन्द्रह वर्ष की मालूम हो रही है। चेहरा गठे आकार का है। खूब काला है, किन्तु देखने में सुन्दर है। लड़कों की तरह बाल छँटे हुए हैं। अभिमान, सतेज और साफ सरल भाव है। एक लड़के को गोद में लेकर वह निःसंकोच और कौतूहल के साथ मेरी तरफ ताकने लगी। उसके चेहरे पर मानो निर्बुद्धिता, या असरलता अथवा असम्पूर्णता नहीं है। विशेषतः आधा बालक और आधी बालिका की तरह लगकर वह [illegible] कुछ विशेष ध्यान आकर्षित कर रही थी। उसमें लड़कों की तरह अपने सम्बन्ध में बेपरवाह सतेज भाव था और उसके साथ माधुरी मिल जाने से वह एक नयी किस्म की लड़की बन गयी थी। बंग देश में इस प्रकृति की स्त्रियाँ दिखाई पड़ेंगी, ऐसी आशा मैंने नहीं की थी। मैंने देखा कि इनमें विशेष लज्जा का भाव नहीं है।

एक लड़की किनारे की सूखी जमीन पर जा खड़ी हुई, धूप में बाल बिखेर कर अपनी दसों अँगुलियों से बालों के गुच्छे सँवारने लगी। साथ ही नाव पर की एक दूसरी स्त्री के साथ ऊँचे स्वर से घर-गृहस्थी के बारे में बात-चीत करने लगी। उनकी बातों से मुझे मालूम हुआ कि वह उसकी एकमात्र लड़की है, दूसरी कोई सन्तान नहीं है। किन्तु वह लड़की भी ऐसी है कि उसमें बुद्धि या समझ नहीं है—'किसको क्या कहना चाहिये, किससे क्या नाता है, अपने पराये का कोई ज्ञान उसमें नहीं है। उनकी बातों से यह भी मालूम हुआ कि गोपाल साहु को दामाद अच्छा नहीं मिला है, लड़की उसके घर जाना नहीं चाहती। अन्त में जब यात्रा का समय हो गया तब मैंने देखा कि वही लड़की जिसके बाल छँटे हुए थे, जो हाथों में गोल कङ्गन पहने हुए थी, जिसकी उज्ज्वल सरल मुखाकृति से शोभा निखर रही थी, नाव पर चढ़ा दी गयी। मैं समझ गया कि शायद यह बेचारी अपने मायके से ससुराल जा रही है। नाव जब छूट गयी तब स्त्रियाँ किनारे खड़ी होकर ताकने लगीं, उनमें से दो-चार आँचल से आँख-नाक पोंछने लगीं। एक छोटी सी लड़की जिसके सिर के बाल खूब खींच कर बँधे हुए थे, एक बड़ी उम्र की लड़की की गोद में जा, उसका गला पकड़ कर और उसके कन्धे पर अपना सिर रखकर रोने लगी। जो लड़की विदा हुई वह शायद इस बेचारी की बड़ी बहिन थी, शायद इसके साथ वह कभी-कभी गुड़ियों के खेल में शामिल होती थी, शायद कभी-कभी इसकी दुष्टता देखकर वह [illegible] नदी का किनारा [illegible] मालूम होने लगा, [illegible] की तरह। मन में खयाल उठा, यह सारा संसार कितना सुन्दर है, साथ ही कैसी वेदना से परिपूर्ण है। इस अजान छोटी लड़की का इतिहास मानो मुझे पूरा मालूम हो गया। किनारे [illegible]

से चले जाने में, मानों और कुछ अधिक करुणा मौजूद है, बहुत अंशों में मानों मृत्यु की तरह। तट से नदी के प्रवाह से चला जाना ऐसा ही है। जो खड़ी थीं वे आँखें पोंछती हुई चली गयीं। जो नदी में नाव से गयी वह अदृश्य हो गयी। मैं जानता हूँ, जो रह गयीं वे भी, और जो चली गयी वह भी, सभी इस गम्भीर वेदना को भूल जायँगी, सम्भवतः इतनी देर में वह वेदना [illegible]। यह वेदना क्षणिक है और विस्मृति ही [illegible] करके देखने से मनुष्य जान जाता है कि यह वेदना ही वास्तविक सत्य है, विस्मृति सत्य नहीं है। एक-एक विच्छेद और एक-एक मृत्यु के समय, मनुष्य सहसा जान जाता है कि यह व्यथा कितनी अधिक सच्चाई से भरी हुई है। वह जान जाता है कि मनुष्य केवल भ्रम के कारण ही निश्चिन्त रहता है। कोई रहता नहीं है, और इसको सोचते ही मनुष्य और भी व्याकुल हो जाता है। हम केवल न रहेंगे यही बात नहीं है, किसी के मन में हमारी याद भी न रहेगी।...वास्तव में हमारे देश की करुण रागिनी के सिवा, पूरे मनुष्य समाज के लिए, सर्वकाल के मनुष्यों के लिए और कोई गान उपयुक्त नहीं है।

३०

कटकाभिमुख जलमार्ग से

अगस्त १८९२

पहनने के कपड़े प्रति दिन गन्दे होते जा रहे हैं, अव्यवहार्य होते जा रहे हैं, फिर भी कपड़ों का बैग अपने पास नहीं है, यह विचार चित्त में दिन रात जागरूक रहने से किसी भी भले आदमी का आत्म-सम्मान दूर हो जाता है। कपड़ों का बैग पास रहने से जिस तरह

उन्नत मस्तक किये, तेजस्विता के साथ जनसमाज में विचरण कर सकता था, इस समय उस तरह चलने में असमर्थ हो रहा हूँ। किसी तरह अपने को साधारण की दृष्टि से छिपा रखने की इच्छा हो रही है। यही कपड़ा पहन कर रात को सो रहता हूँ और इसको पहने ही प्रातःकाल सबके सामने प्रकट होता हूँ। इधर स्टीमर में सर्वत्र ही कोयले की कुटकी उड़ रही है और गन्दगी फैल रही है, मध्याह्न के असह्य उत्ताप से समूचा शरीर वाष्पाकुल होता जा रहा है, इसके सिवा स्टीमर में जो सुख मिल रहा है, वह लिखकर मैं क्या करूँगा। कितने प्रकार के साथी यहाँ मिल गये हैं, उनकी कोई संख्या ही नहीं है। अघोर बाबू नामक कोई सज्जन आ गये हैं जो जगत् के सारे जड़-चेतन पदार्थों के बारे में बे-सिर पैर की बातें कहते रहे हैं। एक और संगीतज्ञ महाशय आधीरात को भैरवी अलापने लगे। विविध कारणों से यह अत्यन्त असामयिक मालूम होने लगा। एक संकीर्ण जल-भाग में सहसा कल तीसरे पहर को ही जहाज अटक गया और आज दिन के नौ बजे तक हम सभी रुके हुए हैं। यात्रियों की भीड़ में, डेक के एक छोर पर निर्जीव और उदास होकर मैं लेटा रहा। खानसामे को पूड़ियाँ पकाने का आदेश दिया। वह आकार-प्रकारहीन मैदा पकाकर मुझे दे गया, उसके साथ तरकारी भाजी का थोड़ा-सा भी अंश नहीं था। देखकर मैंने जरा आश्चर्य और आक्षेप प्रकट किया। वह तटस्थ होकर बोला—'अभी बना देता हूँ।' यह देखकर कि, रात अधिक हो गयी है, मैं राजी नहीं हुआ और रूखी सूखी पूड़ी खाकर और लोगों के बीच लेट रहा। आसपास आकाश में मच्छड़ और नीचे चारों ओर तिलचट्टे आदि विचरण कर रहे थे। ठीक मेरे पैरों के पास ही एक और व्यक्ति सोया हुआ था, उसके शरीर पर कभी-कभी मेरे पैर लग जाते थे। चार-पाँच नाकें लगातार बोल रही थीं। मच्छड़ों से ऊबकर और नींद न लगने के कारण कुछ अभागे तमाखू पी रहे थे। इसके

बीच भैरवी रागिनी चल पड़ी। रात के साढ़े तीन बजे कुछ बड़े ही व्यस्त व्यक्ति, एक दूसरे को जगाने में उत्साह दिखाने लगे। मैं अत्यन्त कातर भाव से बिछौने से उठ पड़ा और कुर्सी के सहारे बैठा हुआ प्रभात की प्रतीक्षा करने लगा। एक विचित्र अभिशाप की तरह रात बीत गयी। एक खलासी ने खबर की कि स्टीमर इस तरह अटक गया है कि आज सारा दिन यह यहाँ से हिलेगा ही नहीं। एक कर्मचारी से मैंने पूछा—क्या अभी थोड़ी देर में कलकत्ते के लिए कोई स्टीमर मिल सकता है। उसने हँस कर जवाब दिया, यही जहाज अपने नियत स्थान पर पहुँच कर फिर कलकत्ता लौट जायगा। इसलिए, इच्छा हो तो इसी जहाज से मैं वापस जा सकता हूँ। सौभाग्यवश बहुत खींचातानी के बाद प्रायः दस बजे जहाज चलने लगा।

३१

चाँदनी चौक, कटक
३ सितम्बर १८९१

—बाबू खूब मोटे-ताजे रोबीले चेहरे के आदमी हैं। उनको देखने से मालूम होता है कि, कोई बड़े देवता हैं। उम्र काफी हो चुकी है। चुनी हुई चादर कंधे पर है, शौकीनी पोशाक है, शरीर में सुगन्धित तेल-इत्र पुते हैं, चिकुर कुंचित है, मूँछ तीक्ष्ण तौर से उठी है, ललाट चौड़ा है, बड़ी-बड़ी आँखें हैं, अपने घमंड के नशे से आँखें ऐंठी हुई हैं। बातें करने लगते हैं तो पुतलियाँ आकाश की तरफ उठ जाती हैं। गम्भीर स्वर से, अति मृदु मन्द मदान्ध भाव से बातें करते हैं। सभा मानो अनुगत भृत्य की तरह उनके अवसर की प्रतीक्षा में एक तरफ

स्तब्ध भाव से खड़ा रहता है। किसी विषय के लिए रत्तीभर भी हड़बड़ी नहीं है। दोनों आँखों को फेरकर उन्होंने मुझसे एक बार पूछा—'ज्योति इस समय कहाँ है?' प्रश्नकर्ता की अटल गम्भीरता से मेरा अन्तःकरण घबड़ा उठा। मैंने नम्रतापूर्वक विनीत भाव से कहा कि मेरे भैया राजधानी में ही रहते हैं। उन्होंने कहा—"वीरेन्द्र के साथ पढ़ता है?" यह सुनकर मेरा चित्त और भी अभिभूत हो गया। इसके बाद जब उन्होंने किसी का परामर्श लिये बिना ही, असमय में अकस्मात् मेरे इस स्थान में आ जाने के सम्बन्ध में बालकोचित नासमझी का उल्लेख किया, तब मैं कैसा म्लान और संकुचित हो गया, यह अनुमान करना कठिन न होगा। मैं सिर झुकाये ही झुकाये बार-बार कहने लगा—'मैं वास्तविक अवस्था कुछ भी नहीं जानता, पहले कभी मैं आया नहीं था, यही पहले पहल आया हूँ।' सब ठीक है इसी से यह बात समझ में आ जायगी कि, इतिहास लिखना कितना कठिन काम है। इसीलिए मैंने सोच लिया है कि अब से अपनी सभी चिट्ठियों में तारीख लिख दूँगा।

३२

सिरन

७ सितम्बर १८९१

बलिया का घाट देखने में बहुत सुन्दर है। दोनों तरफ खूब बड़े-बड़े पेड़ हैं। पूरे दृश्य के साथ नहर को देखने से मुझे पूना की यह छोटी नदी याद पड़ गयी।

मैंने अच्छी तरह विचार करके समझ लिया कि यदि इस नहर को मैं नदी ही जानता होता, तो यह दृश्य और अधिक अच्छा लगता।

दोनों तटों पर बड़े-बड़े नारियल के पेड़ हैं, आम के पेड़ हैं, और तरह-तरह के छायादार वृक्ष हैं। तट ढालू है, स्वच्छ है, सुन्दर हरी घास और असंख्य फूल वाली लताओं से आच्छन्न है, कहीं-कहीं केवड़े की झाड़ियाँ हैं। जहाँ पेड़ों की संख्या कुछ कम है, उस जगह से दिखाई पड़ता है कि नाले के ऊँचे करारे के नीचे एक अपार मैदान फैला हुआ है। वर्षाकाल होने के कारण अनाज के खेत ऐसी घनी हरियाली से शोभित हो रहे हैं कि दोनों आँखें उनसे हटना ही नहीं चाहतीं। बीच-बीच में खजूर और नारियल वृक्ष-श्रेणियों के भीतर छोटे-छोटे गाँव हैं। वर्षाकाल के स्निग्ध मेघाच्छन्न झुके हुए आकाश के नीचे ये सब दृश्य श्याम-छाया से परिपूर्ण हो गये हैं। नगर के दोनों तटों पर साफ हरे-भरे खेत हैं, उनके ही बीच से सुन्दरता के साथ वह नहर इधर-उधर टेढ़ी-मेढ़ी होकर चली गयी है। स्रोत बहुत धीमा है। जहाँ नहर बहुत सकरी हो गयी है, वहाँ जल के पास कुमुद-वन और लम्बी-लम्बी घास उगी हुई है। किन्तु, तो भी मन में यही एक आक्षेप रह जाता है कि यह तो एक खुदवायी हुई नहर ही है—इसके जल की कल-कल ध्वनि में अनादि प्राचीनता नहीं है, यह किसी दूरस्थ दुर्गम, जनहीन पर्वत-गुहा का रहस्य नहीं जानती, किसी एक प्राचीन स्त्री नाम धारण करके अति अज्ञात काल से दोनों तटों के गाँवों को यह अपने स्तनों से दूध पिलाती नहीं आयी है। यह कभी कलकल करके यह नहीं कह सकती—

'मेन मे कम ऐण्ड मेन मे गो,
बट—आई गो आन फार एवर।'

प्राचीन-काल के बड़े बड़े पोखरों को भी इसकी अपेक्षा बहुत अधिक गौरव प्राप्त हो चुका है। इसी से यह बात अच्छी तरह समझ में आती है कि एक पुरातन बड़ा पेड़ अनेक दिनों में हीन हो जाने पर भी, क्यों इतना आदर प्राप्त करता है! उसके ऊपर मानो बहुत दिनों की एक सम्पद्-श्री की आभा पड़ी रहती है। एक सोने का व्यापारी एका-

एक बड़ा आदमी हो जाने पर, बहुत सोना पा जाता है, किन्तु उस सोने का लावण्य वह शीघ्र नहीं पाता। जो भी हो, और एक सौ वर्ष बाद जब इस तट के पेड़ और बड़े हो जायँगे, चमकदार सफेद माइल स्टोन बहुत कुछ घिस जायँगे, सेवारों से आच्छन्न होकर म्लान हो जायँगे, ऊपर खुदा हुआ १८७१ सन् जब अति दूरवर्ती प्रतीत होने लगेगा, तब यदि मेरा प्रपौत्र जन्म ग्रहण करे और हम इसी तरह से बोट लेकर अपनी जमींदारी के पाण्डुवा इलाके की देखभाल करने जा सकें तो उस हालत में मेरे मन में बहुत कुछ भिन्न प्रकार का भावोदय हो सकता है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु, हाय मेरा प्रपौत्र! उसके भाग्य में क्या लिखा है कौन जानता है। ठाकुर वंश का एक छिन्न टुकड़ा, बहुत दूर फेंके जाकर, एक मृत उल्काखण्ड की तरह शायद ज्योतिहीन और निर्वापित हो जाय। किन्तु मेरी वर्तमान दुर्दशा इतनी है कि अपने प्रपौत्र के लिए विलाप करने की कोई जरूरत नहीं है।

चार बजे हम तारापुर जा पहुँचे। वहाँ से हमारी यात्रा पालकी से शुरू हुई। मैंने सोचा था, ६ कोस का रास्ता है, शाम को आठ बजे के पहले ही हम अपनी कोठी पर पहुँच सकेंगे। खेत के बाद खेत, गाँव के बाद गाँव, झील के बाद झील, सभी खत्म होते जा रहे हैं, किन्तु ६ कोस का रास्ता खत्म ही नहीं होता। सन्ध्या को साढ़े सात बजे कहारों से मैंने पूछा—अब कितनी दूर है। उन्होंने कहा—अब ज्यादा दूर नहीं, तीन कोस से कुछ अधिक बाकी है। सुनकर पालकी में जरा हिल-डोलकर बैठ गया। पालकी में मेरे आधे शरीर के लिए भी जगह नहीं थी। कमर में दर्द शुरू हो गया था, पैरों में झुनझुनी पैदा हो गयी, सिर में वेदना होने लगी। यदि अपने को तीन-चार तहों में मोड़कर बैठने का कोई उपाय रहता तो उस हालत में इस पालकी में मुझे कुछ सुविधा होती। रास्ता बहुत ही भयङ्कर था, सर्वत्र ही घुटने भर कीचड़ भरा था, कहीं-कहीं फिसलाहट के डर से कहार नहीं सम्भलता

से एक-एक कदम उठा रहे थे, तीन-चार बार उनके पैर फिसल जाने की हालत में आ गये थे, झटपट उन्होंने अपने को सम्हाल लिया। कहीं-कहीं रास्ता नहीं था, धान के खेत में बहुत जल जम गया था, उसमें से ही छप्-छप् आवाज करते हुए वे आगे बढ़ते जा रहे थे। बादलों से रात खूब अँधेरी हो गयी थी, टपटप वर्षा की बूँदें पड़ रही थीं, तेल की कमी से मशाल कभी-कभी बुझ जाता था। फिर बहुत फूँककर उसे जलाया जाता था। प्रकाश की कमी की शिकायत करते हुए कहार बकवाद करने लगे। इसी तरह कुछ दूर जाने पर प्यादे ने हाथ जोड़कर कहा—सामने एक नदी है, यहाँ नाव पर पालकी चढ़ाकर पार जाना होगा, किन्तु अभी नाव यहाँ नहीं आयी है, अब तुरन्त ही आ जायगी, इसलिए थोड़ी देर तक पालकी यहीं रखनी पड़ेगी। पालकी रखी गयी। हम प्रतीक्षा करने लगे। उसके बाद नाव का कहीं पता ही नहीं मिला। धीरे-धीरे मशाल बुझ गयी। उस अँधेरी नदी-तट पर प्यादे ऊँचे स्वर से नाव वालों को पुकारने लगे। नदी के उस पार से उनकी प्रतिध्वनि वापस आने लगी, किन्तु किसी नाव वाले ने उत्तर नहीं दिया।

'ऐ मुकुन्द—सुनते हो' 'ऐ बालकृष्ण' 'ऐ नीलकण्ठ' [illegible] स्वर से पुकारने से, बैकुण्ठ से मुकुन्द और कैलाश [illegible] उत्तर आते, किन्तु कर्णधार अपने कान बन्द किये अटल भाव से अपने घर में विश्राम करने लगे। निर्जन नदी तट पर एक मड़ैया तक भी नहीं है, केवल रास्ते के [illegible]। वाहनहीन एक खाली बैल-गाड़ी पड़ी हुई है। हम [illegible] आ बैठे और मौज से बात-चीत करने लगे। मेढकों का डरौना [illegible] और झिल्लियों की [illegible] से सारी [illegible] हो गयी थी। मैं समझ गया कि इसी [illegible] में शरीर [illegible] रात बितानी पड़ेगी, मुकुन्द और नीलकण्ठ शायद कल सवेरे यहाँ आ जाँय। अतएव मैं मन ही मन मुसकुराने लगा।

जो कुछ भी क्यों न हो, यदि वे कहेंगे भी तो उड़िया भाषा में कहेंगे, मैं कुछ भी समझ न सकूँगा, किन्तु मेरे मुँह पर कोई हँसी न रहेगी, इस विषय में सन्देह नहीं है। इसी तरह बहुत समय बीत गया। उसी समय मचमचाहट की आवाज लिये बड़े भाई की पालकी आ गयी। नाव के आने की सम्भावना न देखकर बड़े भाई ने हुक्म दिया—पालकी माथे पर रखकर नदी पार करना होगा। सुनकर कहार बहुत हिचकने लगे और मेरे मन में भी दया और किञ्चित् द्विधा उत्पन्न हो गयी। जो भी हो, बहुत वाक्-वितण्डा के बाद वे लोग हरिनाम उच्चारण करते-करते पालकी माथे पर लेकर नदी में उतर पड़े। बड़े कष्ट से नदी को उन्होंने पार किया। उस समय रात के साढ़े दस बज चुके थे। मैं किसी तरह अपने सारे अङ्गों को समेटकर लेट रहा। अच्छी नींद सी लग रही थी, ऐसे ही समय में हठात् एक कहार के पैर फिसल जाने से पालकी खूब अच्छी तरह हिल गयी। अकस्मात् नींद टूट गयी और छाती धड़कने लगी। उसके बाद आधी नींद और आधी जाग्रतावस्था में आधी रात को हमलोग अपनी पाण्डुवा की कोठी में जा पहुँचे।

●

३३

सिरन

६ दिसम्बर १८९१

बहुत दिनों के बाद कल बादलों के फट जाने से वर्षा बन्द हो गयी और शरत् की सुनहली धूप निकल पड़ी। इस संसार में धूप नामक कोई चीज है यह बात मानो मैं बिलकुल ही भूल गया था। अब हठात् कल दिन में दस ग्यारह बजने के बाद धूप निकल आयी, तब मानो एक नयी चीज देखकर मन में अपूर्व विस्मय उदित हुआ। दिन बहुत

ही सुन्दर था। मैं दोपहर के समय स्नान भोजन के बाद बरामदे के सामने एक आराम कुर्सी पर अपने पैर पसारकर अर्धसुप्त अवस्था में जाग्रत स्वप्न देख रहा था। मेरी आँखों के सामने हमारे मकान के हाते के कुछ नारियल-वृक्ष भले लग रहे थे—उसके उस तरफ जितनी दूर दृष्टि जाती थी केवल शस्यक्षेत्र ही दिखाई पड़ रहे थे, उन शस्य-क्षेत्रों के बिलकुल ही छोर पर, पेड़-पौधों का आभास मात्र झलक रहा था। पेड़ुकियाँ बोल रही थीं और बीच-बीच में गाय-बैलों की गरदन में बँधी घंटी सुनाई पड़ रही थी। गिलहरी पूँछ के सहारे बैठकर सिर ऊपर उठाये अचानक अदृश्य हो जा रही थी। खूब एक निस्तब्धता छायी हुई थी। हवा बे-रोकटोक बहती जा रही थी, नारियल वृक्ष की पत्तियाँ कर कर शब्द करती हुई काँप रही थीं। दो-चार किसान खेत के एक भाग में धान के छोटे-छोटे पौधे उपारकर बाँध रहे थे। काम-काज में केवल इतना ही दिखाई पड़ रहा था।

●

३४

सिलाईदह

१ अक्टूबर १८९१

दिन चढ़ने पर नींद से उठकर मैंने देखा कि, धूप निकल आयी है और शरद् की भरी हुई नदी का जल झलमल झलमल कर रहा है। नदी का जल और तट प्रायः समतल हो गये हैं, धान के खेत सुन्दर और हरे हो गये हैं और गाँव के पेड़-पौधे वर्षान्त में सतेज और निविड़ हो गये हैं। ऐसा सुन्दर मालूम हुआ कि मैं क्या कहूँ! दोपहर की वर्षा की एक अच्छी झड़ी हो गयी थी। उसके बाद तीसरे पहर को पद्मा नदी के किनारे हमारे नारियल के बगीचे में सूर्यास्त हो

गया। मैं नदी के किनारे जाकर धीरे-धीरे टहल रहा था। हमारे सामने की तरफ बहुत दूर आम के बगीचे में सन्ध्या की छाया बढ़ती जा रही थी और लौटने के राह में नारियल के पेड़ों के पीछे आकाश में सुनहला रङ्ग छा गया था। यह पृथ्वी कैसी आश्चर्यजनक सुन्दरी है और कैसे उदार प्राणों से और गम्भीर भावों से परिपूर्ण है, यह बात यहाँ आये बिना समझ में नहीं आती। जब मैं सन्ध्या के समय बाँट पर चुपचाप बैठा रहता हूँ, जल स्तब्ध रहता है, तट पर धुँधली छाया आ जाती है और आकाश के छोर पर सूर्यास्त की दीप्ति धीरे-धीरे म्लान हो जाती है, तब अपने सर्वांग और समस्त मन पर निस्तब्ध आँखें झुकाकर पड़ी हुई प्रकृति का, क्या ही वृहत् उदार वाक्यहीन स्पर्श अनुभव करता हूँ! उसमें कैसी शान्ति रहती है, कैसा स्नेह रहता है, कितना महत्व रहता है, कैसा असीम करुणापूर्ण विषाद रहता है। इस मनुष्यालय के निकटस्थ शस्यक्षेत्रों से लेकर उस निर्जन नक्षत्रलोक तक, एक स्तम्भित हृदय-राशि से आकाश लबालब भर जाता है। मैं उसी में स्नान करके असीम मानसलोक में अकेला बैठा रहता हूँ, केवल मौलवी मेरे पास खड़ा रहकर बराबर बक बक करता हुआ मुझे व्यथित कर देता है।

●

३५

सिलाई दह
अक्टूबर १८९१

आज दिन बहुत अच्छा है। घाट पर एक दो नावें आकर लगती रहती हैं। पूजा की छुट्टी में, विदेश से प्रवासी लोग गठरी मोटरी, बक्स, टोरी में तरह तरह की उपहार सामग्री लिये एक वर्ष के बाद अपने-अपने घर लौट रहे हैं। मैंने देखा, एक बाबू ने घाट के पास नाव के

पहुँचते ही अपने पुराने कपड़े बदलकर एक नयी चुनी हुई धोती पहन ली। कमीज के ऊपर सफेद रेशम का बना एक चीनी कोट पहन लिया, और एक चौपती हुई चादर बड़े ही यत्न से कंधे पर झुलाकर, छाता गरदन पर रख गाँव की ओर चल पड़ा। धान के खेत थर-थर काँप रहे हैं, आकाश में सफेद बादलों के झुण्ड मडरा रहे हैं; आम और नारियल-वृक्ष की चोटियाँ आकाश में लहरा रही हैं, नारियल के पत्ते हवा में झुर-झुर कर रहे हैं, रेती पर दो-चार काँस के पौधों में फूल लगने का समय आ गया है—सब मिलाकर एक बहुत ही सुखद दृश्य सामने है। विदेश से जो मनुष्य अभी अपने गाँव लौटा है उसके मन का भाव, घरके लोगों से मिलने की आतुरता और शरद् काल का यह आकाश, यह पृथ्वी, प्रातःकाल की यह मन्द-मन्द हवा और पेड़-पौधे, तृण गुल्म, नदी की तरङ्गों के भीतर का एक लगातार सघन कम्पन, इन सभी ने मिलकर, इस युवक को सुख-दुःख में एक तरह से अभिभूत कर दिया था। खिड़की के पास अकेले बैठकर आँखें खोलकर देखने से ही मन में नयी साध उत्पन्न होती है, नयी साध कहना ठीक नहीं है, पुरानी साध तरह-तरह की नवीन मूर्तियाँ धारण करने लगती हैं। परसों इसी तरह बोट की खिड़की के पास चुपचाप बैठा हुआ था, एक मछुए की डोंगी में एक माझी गाना गाते गाते चला गया। बहुत अच्छा स्वर था ऐसी बात नहीं। हठात् मुझे याद पड़ा, बहुत दिन बीत चुके हैं लड़कपन में बोट पर चढ़कर मैं पद्मा में आया था। एक दिन रात को प्रायः दो बजे नींद टूट जाने के साथ ही बोट की खिड़की से मुँह निकाल कर मैंने देखा, तरङ्गहीन नदी पर चाँदनी खूब छिटक रही है। एक छोटी डोंगी पर एक लड़का अकेले डाँड़ चलाता हुआ गाना ले आ रहा है और ऐसे ही मीठे गले से गाना गा रहा है। इसके पहले ऐसा मीठा गाना मैंने कभी नहीं सुना था। एकाएक मन में यह ख्याल उठा कि फिर यदि उसी दिन

का-सा जीवन वापस पा जाता ! फिर एक बार परीक्षा करके देख लेता । इस बार उसको पुस्तक और अतृप्त में नहीं रखता । इस बार मैं चाहता हूँ कि कानिजनोचित गाना गाते हुए एक पतली डोंगी पर चढ़कर ज्वार के साथ बहता जाऊँ, गाना गाऊँ और वश में कर डालूँ और देख आऊँ कि संसार में कहाँ क्या है, अपने को भी एक बार परिचित कर लूँ, दूसरों का भी एकबार परिचय पा आऊँ। जीवन-यौवन से उच्छ्वसित होकर हवा की तरह एक बार हनहनाता हुआ घूम आऊँ, उसके बाद अपने घर वापस आकर परिपूर्ण प्रफुल्ल बुढ़ापे को कवि की तरह व्यतीत करूँ। यह कोई बहुत ऊँचा आदर्श है ऐसी बात नहीं है, संसार का हित करना इससे बहुत बड़ा आदर्श हो सकता है, किन्तु मैं जैसा मनुष्य हूँ वह तो मेरे मन में कभी नहीं उदय होता। उपवास करके आकाश की तरफ ताकते रहकर और बिना सोचे सर्वदा मन ही मन तर्क-वितर्क करके, संसार को और मनुष्य हृदय को बात बात में वञ्चित करके, स्वेच्छारचित दुर्भिक्ष में यह दुर्लभ जीवन मैं त्याग देना नहीं चाहता। यह संसार, सृष्टिकर्ता की धोखा-धड़ी है, और शैतान का एक फंदा है, यह खयाल मन में न लाकर, इसपर विश्वास रखकर, इसे प्यार करके, और इसका प्यार पाकर, मनुष्य की तरह जीवित रहना और मनुष्य की तरह मर जाना ही यथेष्ट है—देवता की तरह हवा बनकर जीने की चेष्टा करना हमारा काम नहीं है।

●

३६

शिलाईदह

२६ आश्विन, अक्टूबर १८६१

कल सन्ध्या समय नदी के किनारे एक बार पश्चिम तरफ के सुनहले

सूर्यास्त और फिर पूरब तरफ के चन्द्रोदय की तरफ घूमकर मूँछ पर ताव देते-देते टहल रहा था। बीमार लड़के की तरफ माँ जिस तरह ताकती है, प्रकृति उसी तरह सुगम्भीर, स्तब्ध और स्निग्ध विषाद के साथ मेरे मुँह की तरफ ताक रही थी! नदी का जल आकाश की तरह स्थिर था और हमारी दो बँधी नावें जलचर चिड़ियों की तरह, मुँह पर पङ्ख ढाँके स्थिर भाव से सो रही थीं। ऐसे ही समय में मौलवी ने आकर भीत स्वर से चुपके-चुपके मुझे खबर दी—"कलकत्ते की भजिया आयी है।" एक ही क्षण में कितने प्रकार की असम्भव आशङ्कायें मन में जाग उठीं, यह मैं बता नहीं सकता। जो हो, मन की चञ्चलता दबाकर गम्भीर स्थिर भाव से अपने राजासन पर मैं बैठ गया और भजिया को बुला-भेजा। भजिया जब कमरे में प्रवेश करते ही रोने-धोने लगी और मेरे पैर उसने पकड़ लिये, तभी मैं समझ गया कि यदि कोई दुर्घटना हुई है तो वह भजिया से ही सम्बन्धित है। उसके बाद वह अपनी टूटी बँगला बोली के साथ नाक का सुर और आँखों के आँसू मिलाकर बहुत-सी असम्बद्ध बातें सुनाने लगी। बड़े कष्ट से उसके कथन का सारांश संग्रह किया जा सका। वह इस प्रकार है—

भजिया और भजिया की माँ दोनों में प्रायः आपसी झगड़ा होता रहता है, इसमें जरा भी आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि दोनों ही हमारे पश्चिम आर्यावर्त की वीराङ्गनाएँ हैं, कोई भी हृदय की कोमलता के लिए प्रसिद्ध नहीं है। एक दिन सन्ध्या के समय माँ-लड़की आमने-सामने आ गयीं और [illegible] गयीं। स्नेहालाप के बाद आलिङ्गन किया जाता है, वह नहीं हुआ, उलटे गाली-गलौज के बाद मारा-मारी हो गयी। उस बाहुयुद्ध में माँ का ही पतन हुआ, और उसे कुछ अधिक चोट भी लगी। भजिया का कहना है कि उसकी माँ ने एक काँसे की कटोरी से उसके सिर पर प्रहार किया, तो वह अपनी रक्षा की चेष्टा करने लगी, उसी चेष्टा में उसके हाथ का कङ्गन माँ के सिर

पर जा लगा और किसी जगह लग जाने से खून निकल आया। जो भी हो, इन सब घटनाओं से उसी क्षण तिमञ्जिले से उसे हटाकर निचली मञ्जिल में रहने की व्यवस्था कर दी गयी है। यह घटना तीन-चार दिन पहले हुई पर मुझे कोई खबर नहीं मिली—बिलकुल ही किसी नोटिस के बिना सिर पर भजिया आ धमकी।



२७

शिलाईदह
२ कार्तिक
अक्टूबर १८९१

मुझे मालूम होता है कि कलकत्ता छोड़कर कहीं बाहर आ जाने से ही अपने स्थायित्व और महत्व पर से मनुष्य का विश्वास बहुत कुछ घट जाता है। यहाँ मनुष्य कम रहते हैं और पृथ्वी अधिक है। चारों तरफ ऐसी सब चीजें दिखाई पड़ती हैं जो आज तैयार कर, कल मरम्मत करके, परसों बेची नहीं जा सकतीं। [illegible] मनुष्य की जन्म-मृत्यु, उसके क्रिया-कलापों के बीच [illegible] रही हैं, प्रति दिन समान भाव से यातायात कर रही हैं, और [illegible] से बेरोक-टोक प्रवाहित हो रही हैं। गाँव-देहात में आने पर मैं मनुष्य को स्वतन्त्र मनुष्य के रूप में नहीं देखता। जिस तरह [illegible] से नदी बहती रहती है, उसी तरह मनुष्यों का स्रोत भी [illegible] के साथ पेड़-पौधों, गाँव-नगरों के बीच से टेढ़ी-मेढ़ी होकर [illegible] में बह रहा है, इसका अन्त ही नहीं होता। [illegible] वह बात [illegible] नहीं है। मनुष्य भी बहुत सी शाखा-प्रशाखाओं के साथ नदी की ही तरह चल रहा है—उसका एक

छोर है जन्म-शिखर पर, और दूसरा छोर है मरण-सागर में। दो तरफ, दो अन्धकार रहस्य हैं, बीच में विचित्र लीला, कर्म और कलध्वनि है, किसी समय इसका अब अन्त नहीं। वह सुनो खेत में किसान गाना गा रहा है, मछुआ डोंगी खेता हुआ जा रहा है, समय बीत रहा है, धूप धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है, घाट पर कोई स्नान कर रहा है, कोई जाल लेकर जा रहा है; इसी तरह इस शान्तिमयी नदी के दोनों तटों पर, गाँवों में, पेड़ों की छाया में, सैकड़ों वर्ष, गुन्-गुन् शब्द करते-करते दौड़ते हुए चले जा रहे हैं—और सबके बीच एक करुण ध्वनि जाग रही है 'आई गो आन फार एवर!' दोपहर की निस्तब्धता में जब कोई चरवाहा दूर से ऊँचे स्वर से अपने साथी को पुकारता है, जब एक नाव छप्-छप् आवाज करती हुई घर की तरफ लौट जाती है, जब स्त्रियाँ घड़ों से जल उड़ेल देती हैं और उनका छल-छल शब्द उठने लगता है, जब मध्याह्न प्रकृति की तरह-तरह की अहिर्निश ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं—जब दो-चार पक्षियों की बोली, मधुमक्खियों का गुन्-गुन् शब्द होता रहता है, जब हवा से पेड़ धीरे-धीरे टेढ़ा होता हुआ चला जाता है और उसका एक तरह का कातर स्वर हवा में तैर उठता है, तब-सब मिलकर एक ऐसा बच्चे को सुलाने वाला गान बन जाता है, मानो माँ सारा समय बैठी रहकर अपने व्यथित लड़के को सुलाकर भुला रखने की चेष्टा कर रही है। कह रही है—'तू और सोच मत कर, अब तू मत रो, अब छीना-झपटी, मारा-मारी मत कर, अब तर्क-वितर्क छोड़ दे, जरा भूल रह, जरा सो जा।' यही कहकर उसके ऊष्ण ललाट पर धीरे-धीरे थपकी लगा रही है।

३८

सिलाईदह
सोमवार, ३ कार्तिक

कार्तिकी पूर्णिमा के दिन, नदी के किनारे-किनारे, धीरे-धीरे मैं टहल रहा था और मन में आप ही आप कथोपकथन चल रहा था। इसे ठीक 'कथोपकथन' नहीं कहा जा सकता, सम्भवतः मैं अकेला ही बकता चला जा रहा था, और मेरा वह काल्पनिक साथी चुपचाप सुनता जा रहा था। अपना होकर भी, एक भी जवाब देने का उस बेचारे के लिए उपाय नहीं था, यदि मैं उसकी आँखों में और उसके चेहरे पर एक अत्यन्त असंगत बात भी बैठा देता तो उस हालत में भी वह कुछ न कह पाता। किन्तु क्या ही सुन्दर हुआ था, वह मैं क्या कहूँ। कितनी बार मैंने बताया है, किन्तु पूरा कुछ भी बताया नहीं जा सकता। नदी में एक भी रेखा नहीं थी। वहीं उस रेती के उस पार जहाँ पद्मा के जल का अन्तिम छोर दिखाई पड़ रहा है, वहाँ से लेकर यहाँ तक एक प्रशस्त ज्योत्स्ना-रेखा झल-झल कर रही है। एक भी मनुष्य नहीं है, एक भी नाव नहीं है, उस पार की नयी रेती में एक भी वृक्ष नहीं है, एक तृण नहीं है—मालूम होता है मानो एक उजाड़ पृथ्वी के ऊपर एक उदासीन चन्द्रमा का उदय हो रहा है, जनशून्य संसार के मध्य-स्थान से एक लक्ष्यहीन नदी बहती जा रही है, बहुत बड़ा एक पुराना गल्प इस परित्यक्त पृथ्वी के ऊपर समाप्त हो गया है। अब न वे राजा लोग, राजकन्याएँ, पार्थमित्र, स्वर्णपुरी कुछ भी नहीं है। केवल गल्प का वह भयङ्कर 'मैदान और सात समुन्द तेरह नदियाँ' म्लान ज्योत्स्ना में चमक रही हैं।

मैं मानो उस मुमूर्षु पृथ्वी की एकमात्र नाड़ी की तरह धीरे-धीरे चल रहा था। और सभी थे दूसरे पार, जीवन के उस पार। वहाँ है यह ब्रिटिश गवर्नमेण्ट, उन्नीसवीं शताब्दी, चाय और चुरुट। कितने दिनों से कितने आदमी मेरी तरह अकेले खड़े रहकर अनुभव करते रहे हैं और कितने कवि प्रकट करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु हे अनिर्वचनीय, यह क्या है, यह किसलिए है, यह कैसा उद्वेग है, इस निरुद्देश व्याकुलता का नाम क्या है, इसका अर्थ क्या है—हृदय के ठीक मध्यस्थान को विदीर्ण करके कब वह सुर निकलेगा, जिसके द्वारा इसका सङ्गीत ठीक व्यक्त होगा!

३९

सिलाईदह

रविवार, ४ जनवरी १८९२

कुछ पहले ही पवना से ए....अपनी मेम और बाल-बच्चों के साथ आ पहुँचा है। मेम चाय पीती है, मेरे पास चाय नहीं है, मेम बचपन से ही दोनों आँखों से दाल नहीं देख सकती, पर मैंने दूसरे खाद्य के अभाव में दाल तैयार करने के लिए कह दिया है। मेम साहब किसी तरह की मछली नहीं छूतीं, मैं मागुर मछली का झोल पकवाकर निश्चिन्त हो चुका हूँ। बड़ा ही सौभाग्य की बात है, वह कण्ट्री स्वीट्स प्यार करती है, इसीलिए एक बहुत दिनों की कड़ी सूखी मिठाई बड़े कष्ट से काँटे से तोड़कर खा गयी। एक बक्स बिस्कुट पिछली बार की रसद के बचे-खुचे हिस्से में पड़ा हुआ था, वह काम में लग जायगा। मैंने फिर एक बार बहुत बड़ी गलती की। मैंने साहब से कहा—'तुम्हारी

मेम चाय पीती है, किन्तु दुर्भाग्यवश मेरे यहाँ चाय नहीं है, कोको है।' उसने कहा—'मेरी मेम चाय की अपेक्षा कोको ज्यादा पसन्द करती है।' मैंने आलमारी में ढूँढ़ कर देखा, कोको नहीं मिला, सभी कलकत्ते लौट गये हैं। फिर उससे कहना पड़ेगा—चाय भी नहीं है, कोको भी नहीं है। पद्मा का जल है और चाय की केटली है। देखता हूँ उसके मुँह का भाव कैसा हो जाता है। साहब के दोनों लड़के इतने उद्दण्ड हैं और ऐसे दुष्ट हैं, कि मैं क्या कहूँ। कभी-कभी साहब मेम में खूब भयङ्कर झगड़ा हो जाता है, मैं इस बोट से सुन पाता हूँ। बच्चों के रोने-चिल्लाने से, नौकर-चाकरों के चीखने-बोलने से और दम्पति के तर्क-वितर्क की जलन से मैं घबड़ाहट में पड़ गया हूँ। मैं किसी काम-काज या लिखने-पढ़ने की सुविधा नहीं देख पाता। मेम अपने लड़के को धमका रही है—"What a little सूअर you are!" देखो तो मेरी गरदन पर यह सब उपद्रव क्यों है?

●

४०

शिलाईदह

सोमवार, ६ जनवरी १८९२

सन्ध्या हो गयी है। गरमी के समय जब मैं बोट में था, ऐसे समय में बोट की खिड़की के पास बैठ जाता था और बत्ती बुझाकर चुपचाप पड़ा रहता था। नदी के शब्दों से, सन्ध्या की आभा से, नक्षत्रों से भरे आकाश की निस्तब्धता से, मन की सभी कल्पनाएँ मधुर आकार धारण करके मुझे घेर लेती थीं। बड़ी रात तक एक तरह निश्चिन्त, निर्जन आनन्द से समय बीत जाता था। शीतकाल की सन्ध्या को, गुमसुम

प्रकृति को बाहर हटाकर खिड़की-दरवाजे बन्द करके, बोट के इस छोटे से काष्ठमय कमरे में एक बत्ती जलाकर अपने मन को खूब अच्छी तरह दौड़ा नहीं सकता। मानो अपने को बहुत ज्यादा रगड़ कर, घिस कर, जकड़ कर रहना पड़ता है। ऐसी अवस्था में अपने मन को लेकर रहना बहुत कठिन हो जाता है।

साहित्य की पुस्तकों में केवल दो गल्प की पुस्तकें साथ ले आया था। किन्तु मेरा दुर्भाग्य है कि आज बिदा होते समय साहब की मेम दोनों पुस्तकें उधार माँग ले गयी हैं, कल वापस देंगी या नहीं, इसका कोई ठिकाना नहीं है। उन दोनों पुस्तकों को हाथ में लेकर सलज्ज विनीत भाव से उन्होंने कहना शुरू किया—'मिस्टर टैगोर, उड यू—' बात खतम भी नहीं हुई थी कि, मैंने खूब जोर से गरदन हिलाकर कहा—'सर्टेनली!' इस बात का किस हद तक क्या अर्थ था, मैं ठीक नहीं बता सकता। वास्तव में वे लोग उस समय बिदाई ले रहे थे। उस उत्साह में अपना आधा राज्य उन्हें दे सकता था। (जो पा जाता उससे विशेष कुछ लाभ होता, ऐसी बात नहीं है) जो भी हो, वे लोग आज चले गये! मेरे इन दो दिनों को एकदम मिट्टी में मिलाते गये। फिर ठीक-ठाक करने में दो दिन और लग जायँगे। मिजाज इतना खराब हो गया है कि मैं डरता रहता हूँ कि कहीं किसी को अनुचित रीति से झिड़की न दे डालूँ। इतना अधिक सावधान हूँ कि, सहजावस्था में जिसको धमकाया करता था इस समय उससे बहुत नरम नरम बातें कर रहा हूँ। मिजाज बिगड़ जाने पर बहुधा मेरी ऐसी उलटी हालत हो जाती है। उस समय लड़के पास रहते हैं तो मैं डरता रहता हूँ कि कहीं उनके मामूली अपराध से उन्हें कड़ी सजा न दे दूँ। बहुत अच्छी तरह सहिष्णुता धारण किये रहता हूँ।

४१

शिलाईदह
बृहस्पतिवार, ९ जनवरी १८९५

दो-चार दिनों से यहाँ की प्रकृति, शीत और वसन्त दोनों के बीच कभी इधर कभी उधर घूम रही है। सवेरे कभी तो उत्तर की हवा जल में—थल में अपना प्रभाव दिखा जाती है, तो कभी सन्ध्या को शुक्लपक्ष की ज्योत्स्ना में दक्षिण की हवा बहकर चारों तरफ अपना असर डाल जाती है। अच्छी तरह यह समझ में आ रहा है कि वसन्त बहुत अंशों में आ गया है। बहुत दिनों के बाद आजकल उस पार के बगीचे से एक पपीहे ने बोलना शुरू कर दिया है। मनुष्य का मन भी कुछ-कुछ विचलित हो उठा है। आजकल सन्ध्या हो जाने पर उसपार के गाँव से गाने-बजाने का शब्द सुनाई पड़ता है। इसीसे यह बात समझ में आ रही है कि, लोग खिड़की दरवाजे बन्द करके शरीर को समेट कर झटपट सो रहने के लिए विशेष उत्सुक नहीं हैं। आज पूर्णिमा की रात है। ठीक मेरी बायीं तरफ की खुली खिड़की के ऊपर एक बड़ा चाँद उगकर मेरे मुँह की तरफ ताक रहा है कि, मैं चिट्ठी में उसके सम्बन्ध में कोई निन्दा कर रहा हूँ या नहीं। सम्भवतः वह यही सोचता है कि, उसकी ज्योत्स्ना की अपेक्षा उसके कलंक को ही लेकर लोग अधिक चर्चा करते हैं। निस्तब्ध रेती पर एक टिटिहरी बोल रही है, नदी स्थिर है, नाव नहीं है, जल के ऊपर अपनी स्थिर छाया डालकर उसपार का नया वन स्तम्भित हो रहा है—निद्राभिभूत आँखें खुली रहने से जैसी दिखाई पड़ती हैं, यह प्रकाण्ड पूर्णिमा का आकाश उसी प्रकार जरा धुँधला दिखाई पड़ रहा है, कल सन्ध्या से फिर धीरे-धीरे अन्धकार

का बढ़ना शुरू हो जायगा। कल कचहरी का काम-काज पूरा करके, इस छोटी नदी को पार करते समय मैं देखूँगा कि मेरे साथ, मेरे इस प्रवास की प्रेमिका का जरा सा विच्छेद हो गया है। कल जिसने मेरे सामने अपना रहस्यमय अपार हृदय खोल दिया था आज उसके मन में मानो जरा सन्देह उपस्थित हो गया है। मानों उसके मन में यह ख़याल आ रहा है कि, एकदम इतना आत्म-प्रकाश उड़ेल देना क्या अच्छा हुआ था। इसीलिए वह अपना हृदय फिर थोड़ा-थोड़ा करके बन्द कर रही है। वास्तव में, विदेश में एकान्त अवस्था में प्रकृति बहुत ही आसपास की चीज है। मैं सचमुच दो-तीन दिनों के बीच लगातार कभी-कभी सोचता रहा हूँ, कि पूर्णिमा के बाद दूसरे दिन से मैं फिर यह ज्योत्स्ना न पाऊँगा, मैं मानो विदेश से और भी जरा विदेश में चला जाऊँगा। काम-काज के बाद प्रतिदिन सन्ध्या के समय जो एक शान्तिमय परिचित सौन्दर्य, मेरे लिए नदी के किनारे प्रतीक्षा करता रहता था वह अब न रह जायगा, अँधियारी के बीच नाव ले लौट जाना पड़ेगा।

किन्तु आज है पूर्णिमा, इस वर्ष के वसन्त की यह है प्रथम पूर्णिमा। इसकी बात मैंने लिखकर रख दी है। हो सकता है कि बहुत दिनों के बाद यह निस्तब्ध रात्रि याद पड़ेगी। वह जो चिड़िया बोल रही है उसकी उस बोली के साथ और उसपार की उस बँधी नाव पर जो बत्ती जल रही है उसके साथ ही, नदी की उज्ज्वल रेखा कुछ-कुछ दिखाई पड़ेगी, उस अन्धकार वन का दृश्य दिखाई पड़ेगा, और वह निर्जन उदासीन पाण्डुवर्ण आकाश दिखाई पड़ेगा।

४२

सिलाईदह

शुक्रवार, ७ अप्रैल १८९२

प्रातःकाल से सुन्दर हवा बह रही है, कोई भी काम करने की इच्छा नहीं हो रही है। शायद ग्यारह या साढ़े ग्यारह बज चुके हैं, किन्तु अभी तक लिखने-पढ़ने या और किसी काम में हाथ नहीं लगाया है। प्रातःकाल से ही एक कुर्सी पर चुपचाप बैठा हुआ हूँ। मस्तिष्क में बिखरी हुई टुकड़ों में लाइनें और कितने ही असम्पूर्ण भाव आना-जाना कर रहे हैं, किन्तु उन सब को एकत्र करके बाँधने अथवा परिस्फुट कर देने की शक्ति का अनुभव नहीं कर रहा हूँ। वह गान याद पड़ रहा है—पायेलिया बाजे झनक-झनक झन-झन नन् नन् नन्। सुन्दर प्रभात काल में, मधुर हवा में, नदी के बीचोंबीच मस्तिष्क में उसी तरह के नूपुर बज रहे हैं, किन्तु वह बजना केवल इधर-उधर, आड़ में ही चल रहा है। कोई पकड़ में नहीं आता, दिखाई नहीं पड़ता। इसीलिए चुपचाप बैठा हुआ हूँ। नदी का जल बहुत कुछ सूख गया है, कहीं भी कमर भर से ज्यादा जल प्रायः नहीं है, इसीलिए बोट को नदी के प्रायः बीचोंबीच बाँध रखने में कठिनाई नहीं पड़ी है। मेरी दायीं तरफ के पार में जो रेती है उसमें हलवाहे हल चला रहे हैं और कभी-कभी बैलों को पानी पिला ले जाते हैं। मेरी बायीं तरफ के पार में, सिलाईदह के नारियल और आम के बगीचे वाले घाट पर स्त्रियाँ कपड़े धो रही हैं, जल भर रही हैं, स्नान कर रही हैं और ऊँचे स्वर से देहाती बोली में हँसी-मजाक कर रही हैं। जो कम उम्र की लड़कियाँ हैं उनकी जलक्रीड़ा समाप्त ही नहीं हो रही। वे एक बार

स्नान करके ऊपर उठ जाती हैं फिर झुप् करके जल में कूद पड़ती हैं। उनका निश्चिन्त उच्च हास्य सुनना बहुत अच्छा लग रहा है। पुरुष गम्भीर भाव से आते हैं, दो-चार डुबकियाँ लगाकर अपना नित्य कर्म समाप्त करके चले जाते हैं, किन्तु जान पड़ता है कि स्त्रियों का जल पर विशेष प्रेम है। परस्पर सादृश्य है और मित्रता है; जल और लड़की दोनों ही खूब सहज भाव से छल्-छल् करते रहते हैं। एक बहुत सहज गति है। छन्द-तरङ्ग, दुःख से, ताप से थोड़ा-थोड़ा सूख जा सकता है किन्तु आघात से बिलकुल ही जीवन भर के लिए टूटकर दो टुकड़ों में बँट नहीं सकता। समूची कठिन पृथ्वी को वह अपने बाहु-बन्धन में आलिङ्गन किये हुए है, पृथ्वी उसके अन्तर का गम्भीर रहस्य समझ नहीं सकती। वह खुद शस्य-उत्पादन नहीं करता, किन्तु भीतर ही भीतर वह नहीं रहता तो पृथ्वी पर एक घास भी नहीं उगती। स्त्रियों की तुलना पुरुष के साथ करके टेनीसन ने कहा है:—Water unto wine! मेरा आज का अनुभव है जल unto स्थल। इसीलिए स्त्रियों में और जल में खूब मेल खाता है। अन्य बहुत तरह के बोझ ढोना स्त्रियों को शोभा नहीं देता, किन्तु झरनों से, कुओं से, घाटों से जल भर ले जाना किसी समय भी स्त्रियों को असङ्गत नहीं मालूम होता। शरीर धोना, स्नान करना, पोखरी में कमर भर जल में बैठकर परस्पर बातें करना, यह सब स्त्रियों के लिए शोभा देते हैं। मैंने देखा है, स्त्रियाँ जल को बहुत प्यार करती हैं क्योंकि दोनों सजातीय हैं। अविश्राम, सहज प्रवाह और कलध्वनि, जल और स्त्रियों के सिवा और किसी में नहीं है। इच्छा करने से और भी अनेक सादृश्य दिखाये जा सकते थे, किन्तु दिन बहुत चढ़ आया है, और एक ही बात को लेकर ज्यादा निचोड़ते रहना अच्छा नहीं है।

४३

सिलाईदह
८ अप्रैल, १८९२

यहाँ आकर मैं इतना 'एलीमेण्ट्स आफ पालिटिक्स' और 'प्राब्लेम्स आफ फ्यूचर' पढ़ता रहता हूँ कि, सुनकर खूब आश्चर्य मालूम हो सकता है। असल बात यह है कि, इस स्थान के लिये ठीक उपयुक्त कोई काव्य या नावेल ढूँढने पर भी मुझे नहीं मिलता। जिसे ही खोल कर देखता हूँ, उसमें बस वही अँग्रेजी नाम; अंग्रेजी समाज, लन्दन का रास्ता और ड्राइंग रूम, और तरह-तरह के बखेड़े मिलते हैं। खूब सीधा-सादा सहज सुन्दर अश्रुबिन्दु की तरह उज्ज्वल कोमल करुणा कहीं ढूँढने पर भी और नहीं मिलती। केवल मिलती है पेचीली बात के बाद पेचीली बात, एनालिसिस; केवल मानव-चरित्र को मरोड़ कर, निचोड़कर, बटोर-समेटकर उसको जोर से लपेट-लपेटकर उससे नयी-नयी थ्योरियाँ और सिद्धान्त निकालने की चेष्टा। इन सबको पढ़ने से, यहाँ की गरमी में [illegible] नदी का शान्त स्रोत, उदास हवा का प्रवाह, आकाश का अनन्त प्रसार, दोनों तटों की अविरल शान्ति और चारों तरफ की निस्तब्धता बिलकुल ही बरबाद हो जायगी। यहाँ लायक उपयोगी रचना मुझे यहाँ ढूँढने पर सिर्फ वैष्णव कवियों के छोटे-छोटे पदों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलती। यदि मुझे बङ्गाल की कुछ अच्छी अच्छी रोमांटिक कहानियों की जानकारी रहती और सरल छन्दों में सुन्दरता के साथ लड़कपन की घरेलू स्मृतियों की मदद से सरस बनाकर कुछ लिख सकता तो उस हालत में वह काम ठीक इस स्थान के लिए उपयुक्त होता। खूब छोटी नदी के कलरव की

तरह, घाट को स्त्रियों के खिलखिलाकर हँसने और उनके मीठे कंठ-स्वर और उनकी छोटी-मोटी बातों की तरह, नारियल के पत्तों के थर-थर काँपते रहने और आम के बगीचे की घनी छाया और प्रस्फुटित सरसों के खेत की गन्ध की तरह—खूब सीधा-सादा, साथ ही सुन्दर और शान्तिमय, बहुत कुछ आकाश, प्रकाश, निस्तब्धता और करुणा से परिपूर्ण यह स्थान उपयुक्त होता। मारपीट, भागा-दौड़ना, लड़ाई करना, जूझना-झगड़ना, रोना-धोना, ये सब इस चुपचाप नदी-जल से घिरे हुए प्रच्छन्न बङ्गाल के लिए उपयुक्त नहीं हैं। जो भी हो, एली-मेण्ट्स आफ पालिटिक्स जल के ऊपर तेल की तरह यहाँ की निस्तब्ध शान्ति के ऊपर से बेरोक-टोक चले जाते हैं। इसको किसी तरह हिला-कर कोई तोड़ता नहीं।

नदी के बीच बैठा हूँ, दिन रात तेज हवा बह रही है, दोनों तरफ के दोनों किनारे, पृथ्वी की दो आरम्भ-रेखाओं की तरह मालूम हो रहे हैं। यहाँ जीवन का केवल आभास मात्र दिखाई पड़ता है, जीवन खूब तीव्र भाव से परिस्फुट नहीं हुआ है। जो लोग जल भर रहे हैं, स्नान कर रहे हैं, नाव चला रहे हैं, गाय-बैल चरा रहे हैं, खेतों के रास्ते से आ-जा रहे हैं, वे मानो यथेष्ट जीवित सत्य नहीं हैं। अन्य स्थानों में मनुष्य भीड़ लगा देते हैं, वे सामने आ पहुँचते हैं तो सोचने में बाधा पड़ती है। उनका अस्तित्व ही मानो केहुनी से ठेलता रहता है, उनमें से प्रत्येक ही एक-एक पाजिञ्जिव मनुष्य हैं! यहाँ पर ये लोग सामने आ रहे हैं जा रहे हैं, बोलते हैं बातचीत करते हैं, काम-काज करते हैं, किन्तु मन को ठेलकर नहीं जाते। कौतूहल से सामने खड़े रहकर देखते रहते हैं, किन्तु उनका कौतूहल सरल है, भीड़ लगाकर शरीर पर आ गिरने वाला नहीं है। जो भी हो, अच्छा लग रहा है।

❀

४४

बोलपुर

शनिवार, २ मई १८९१

इस संसार में बहुत से 'पैराडाइस' हैं। उनमें से यह भी एक है कि जहाँ बृहत् दृश्य है, असीम आकाश है, घने बादल हैं, गम्भीर भाव है, अर्थात् जहाँ अनन्त का आविर्भाव है, वहाँ उसका उपयुक्त साथी है एक मनुष्य—बहुत ही छोटा और बिखरा हुआ। असीमता और एक मनुष्य, दोनों एक दूसरे के समक्ष हैं, अपने-अपने सिंहासन पर एक दूसरे के आमने-सामने बैठे रहने लायक हैं। और कुछ मनुष्य एक साथ रहते हैं तो वे परस्पर को छाँट-काटकर बहुत ही छोटा बनाकर रख देते हैं। एक मनुष्य यदि अपनी समस्त अन्तरात्मा को विस्तृत करना चाहे तो, इतनी अधिक जगह की जरूरत पड़ती है कि आस-पास पाँच-छः आदमियों के लिये जगह नहीं रहती। अधिक मनुष्य जुटाने में लग जाने से ही परस्पर के अनुरोध से अपने को संक्षेप बना देना पड़ता है, जहाँ जितनी ही खाली जगह मिलती है, वहाँ उतना ही सिर झुकाना पड़ता है। बीच में रहकर दोनों भुजाएँ पसार कर, दोनों अँजुरियों को परिपूर्ण करके, प्रकृति की इस अगाध अनन्त फैलाव को मैं ग्रहण नहीं कर सकता।

●

४५

बोलपुर

शुक्रवार, ८ जेठ १८९२

हँसी-मजाक बहुत ही खतरनाक चीज है। वह यदि प्रसन्न हास्य

भरे चेहरे से आपही आप निकलता है तो बहुत ही ठीक है, अन्यथा उसको लेकर यदि खींचतान की जाय तो बहुत ही अनर्थ हो जाने की सम्भावना रहती है। हास्यरस प्राचीनकाल के ब्रह्मास्त्र की तरह है। जो उसका प्रयोग करना जानता है वह उसको लेकर एकदम कुरुक्षेत्र बना सकता है, और जो अभागा उसे नहीं जानता, फिर भी उसे हिलाने जाता है तो उसके लिए 'ब्रह्मास्त्र' लौट कर अस्त्र प्रयोग करने वाले को ही मार डालता है। हास्यरस उसको ही हास्यजनक बना देता है।

स्त्रियाँ यदि हँसी-मजाक करते समय मुखरा हो जायँ तो वह बहुत ही शोभनीय बात हो जाती है। मेरी तो धारणा है कि 'कॉमिक' बनने की चेष्टा करके सफल होने पर भी स्त्रियों को वह शोभा नहीं देता, विफल होने पर भी वह उन्हें शोभा नहीं देता। क्योंकि 'कॉमिक' चीज बहुत भारी और बड़ी है। 'रसिकगिरी' के साथ 'कामिकैलिटी' का एक आत्मीयता का सम्पर्क है; इसीलिए हाथी कामिक है, ऊँट कामिक है, जिराफ कामिक है, स्थूलता भी कामिक है। सौन्दर्य के साथ प्रखरता शोभा देती है, जैसे फूल के साथ काँटा। वैसे ही चोखी बातें स्त्रियों के मुँह से बहुत कड़ी लगती हैं जरूर, वैसी ही वे अच्छी भी लगती हैं! किन्तु जिन व्यंग वचनों से किसी तरह की हानि का आभासमात्र निकलता है, उसकी तरफ तो स्त्रियों को जाना ही नहीं चाहिये। वह है हमारे 'सब्लाइम' स्वजातियों के लिए। मजाकिया पुरुष हमें हँसाकर हमारी नाड़ी को छिन्न-भिन्न कर सकता है, किन्तु मजाकिया स्त्री हमारे शरीर को जला दे सकती है।

४६

शोलापुर

मङ्गलवार, ९ जेठ १८९२

कल जैसी आँधी आयी थी, उसका वर्णन मैं क्या करूँ। अपनी 'साधना' पत्रिका के लिए लेख लिखकर चाय पीने के लिये ऊपर जा रहा था, ऐसे ही समय में भयङ्कर आँधी आ गयी। धूल से आकाश आच्छन्न हो गया। बगीचे की सभी सूखी पत्तियाँ जमा होकर लट्टू की तरह बगीचे में सर्वत्र घूम-घूमकर चक्कर काटने लगीं; मानो जङ्गल की सभी प्रेतात्माओं ने हठात् जाग उठने पर भुतहा नाच नाचना शुरू कर दिया हो। बगीचे के सभी पेड़-पौधे, पैरों में सिकड़ी बँधे जटायुपक्षी की तरह डैने पटक-पटक कर छटपट करने लगे। वह कैसी उन्मत्तता थी, कैसी लोटपोट की हालत थी! आँधी देखकर मुझे याद पड़ रहा था, अमेरिका के Ranch के बारे में—जैसे हठात् कोई एक घेरा तोड़कर [illegible] घोड़े धूल उड़ाते लम्बी साँस लेते हुए भाग रहे हैं, और उनके पीछे-पीछे उनको खदेड़ कर वापस लाने के लिए बड़े-बड़े फन्दे हाथ में लिये बहुत से घुड़सवार दौड़ रहे हैं, और जिसे भी जो मिल जाता है उसके ऊपर धनाधन चाबुक लगा रहे हैं। शोलापुर के सम्मुख आकाश और मैदान में मानो अभी तक का एक उच्छृङ्खल पलायन और पश्चाद्धावन चल रहा है — दौड़ो, दौड़ो, पकड़ो, पकड़ो, भागो-भागो, इत्यादि की हालत।

४७

धौलपुर

मङ्गलवार, [illegible]

पहले ही लिख चुका हूँ, अपराह्न में मैं अपनी रुचि के अनुसार अकेले छत पर टहलता हूँ। कल शाम को अपने सब मित्रों को अपने दायें-बायें लेकर, अघोर को अपना पथ-प्रदर्शक बनाकर, इन लोगों को यहाँ का प्राकृतिक-सौन्दर्य दिखलाना अपना कर्तव्य समझकर, मैं घर से निकल पड़ा। उस समय सूर्य डूब गया था, किन्तु अँधेरा नहीं हुआ था, एकदम दिगन्त के छोर पर जहाँ पेड़ों की पाँत नीले रङ्ग की होकर दिखाई पड़ रही थी, ऊपर की ओर खूब गाढ़े काले बादल की [illegible] एक रेखा प्रकट होकर बहुत ही सुन्दर दिखाई पड़ रही थी। उसे देखते ही मैंने जरा कवित्व का पुट लाकर कहा, ठीक मानो नीली आँखों की पलकों के ऊपर नीला सुरमा लगा दिया गया है। साथियों में से किसी किसी ने मेरा कथन सुना ही नहीं, कुछ लोग कुछ समझ ही न सके, कुछ लोगों ने संक्षेप में कहा—"हाँ, बहुत अच्छा देखने में मालूम हो रहा है।" उसके बाद फिर दूसरी बार कवित्व करने का मुझे उत्साह नहीं हुआ। लगभग एक मील आगे जाने पर एक बाँध के पास [illegible] का बग़ीचा मिला, जिसमें कतारों में पेड़ लगे हुए थे, उसी बाँध के पास एक झरना-सा बन गया था, [illegible] ही देख रहा था कि उसी समय उत्तर तरफ निगाह जाते ही मैंने देखा कि एक नीला बादल [illegible] इकट्ठा हो चला है और रह रहकर बिजली भी चमक रही है। हम समझ नहीं सके कि [illegible] अपने घर में बैठकर देखना ही अधिक निरापद है; [illegible]

तरफ लौट पड़े, उसी समय बड़े मैदान के ऊपर लम्बे कदम बढ़ाती हुई, क्रोध भरी गर्जना के साथ एक आँधी हमारी गरदनों पर आ पड़ी। जिस समय हम लोग प्रकृति-सुन्दरी की आँखों के सुरमे की प्रशंसा कर रहे थे, उस समय हमने जरा भी आशङ्का नहीं की थी, कि वे क्रुद्ध गृहिणी की तरह इतना बड़ा थप्पड़ मारने के लिए हमारे ऊपर टूट पड़ेंगी। धूल से ऐसी अँधियारी छा गयी थी कि पाँच हाथ दूर की भी कोई चीज दिखाई नहीं पड़ती थी। हवा का वेग धीरे-धीरे बढ़ने लगा। कंकड़ हवा में उड़कर गोली के छर्रे की तरह हमें बेधने लगे; जान पड़ा कि हवा पीछे से हमारी गरदन पकड़कर ढकेल रही है; बूँद-बूँद वर्षा पिट्-पिट् करती हुई मुँह पर आघात करने लगी। मैदान की सतह समान नहीं थी। कहीं-कहीं नीचे गड्ढे में उतरना पड़ता था। जहाँ सहजावस्था में भी चलना कठिन था, वहाँ इस आँधी के वेग में चलना और भी कठिन हो गया। रास्ते में काँटेवाली एक सूखी डाली पैर के तलवे में चुभ गयी। उसे निकालने लगा तो हवा पीछे से ढकेल कर मुँह को रौंद डालने की चेष्टा करने लगी। मकान के निकट पहुँचने पर मैंने देखा कि तीन-चार नौकर [illegible] हुए एक दूसरी आँधी की तरह हमारे ऊपर आ [illegible] पकड़ने लगा, कोई अहा उहू करने लगा, कोई रास्ता दिखाने लगा, कोई यह समझ कर कि बाबू हवा से उड़ जायेंगे, पीठ के ऊपर हाथ रखकर दबाने लगा। इन सब नौकर-चाकरों के ऊधम से बचकर, बिखरे हुए बालों के साथ, धूल से गन्दे शरीर लिये, भीगे कपड़े पहने, हाँफते-हाँफते अपने घर तो आ पहुँचा। जो भी हो, मुझे एक अच्छी शिक्षा मिल गयी। शायद किसी दिन किसी काव्य में अथवा उपन्यास में यह वर्णन करने से न चूकता कि, एक नायक मैदान के बीच [illegible] का सामना करता हुआ, नायिका की मधुर मुखशोभा स्मरण करता हुआ बेधड़क चला जा रहा था, किन्तु अब मैं ऐसी झूठी बात लिख

न सकूँगा। आँधी के समय किसी का मधुर मुख याद रखना असम्भव है। क्या करने से आँखों में कंकड़ न घुस सकेंगे यही चिन्ता सबसे प्रबल हो उठती है। इसके सिवा मेरी आँखों पर चश्मा भी था, हवा से वह उड़कर कहीं गिर गया, किसी तरह से भी उसे मैं रख न सका। एक हाथ चश्मा पकड़ कर और दूसरे हाथ से धोती का चुन्नन सँभाले, रास्ते की कँटीली झाड़ी और गड्ढियों से बचकर मैं चल रहा था। यदि आजकल की कोपाई नदी के किनारे मेरी किसी प्रेमिका का मकान रहता, तो मैं उसकी स्मृति को ही सँभालता।

घर लौटने पर कल मैं बहुत देर तक सोचता रहा—वैष्णव कवियों ने गम्भीर रात्रि में आँधी के समय राधिका के अकातर अभिसार के सम्बन्ध में बहुत सी अच्छी-अच्छी मधुर कविताएँ लिखी हैं; किन्तु उन्होंने एक बात पर विचार नहीं किया कि, ऐसी आँधी में वे कैसी मूर्ति लेकर कृष्ण के पास आती थीं? उनके बालों की कैसी अवस्था हो जाती थी, यह तो भलीभाँति समझ में आ रहा है। सजावट-शृङ्गार की भी क्या हालत होती थी? सारे शरीर पर धूल पड़ी रहती थी, उसके ऊपर वर्षा का जल पड़ने से कीचड़ जम जाता था, तो यह अद्भुत शोभा बनाकर कुञ्जबन में कैसे जाकर खड़ी होती थीं? किन्तु वैष्णव कवियों की रचनाएँ पढ़ते समय ये सब बातें याद नहीं पड़तीं। केवल मानस नेत्रों से तसवीर की तरह दिखाई पड़ता है कि एक सुन्दरी श्रावण की अँधेरी रात में विकसित कदम्ब वन के छाया वाले यमुना के तटवर्ती रास्ते से, प्रेम के आकर्षण से, आँधी-पानी के बीच आत्म-विह्वल होकर स्वप्नगता की तरह चली जा रही है। उनके चलने की आहट किसी को सुनाई न पड़े इस आशङ्का से पैरों के नूपुर बाँध दिये हैं, कहीं कोई देख न ले इसलिए नीले रङ्ग की साड़ी पहिने हुए हैं, किन्तु भीग जाने के भय से छाता लेकर नहीं चल रही हैं, कहीं ठोकर खाकर गिर जाने के भय से बत्ती ले चलने की कोई जरूरत उन्हें नहीं मालूम होती।

हाय, आवश्यक वस्तुएँ आवश्यकता के समय इतनी आवश्यक रहती हैं, किन्तु कविता के समय वे उपेक्षित हो जाती हैं। आवश्यकता के सौ लाख दासत्व बन्धनों से हमें छुटकारा देने के लिए कविताएँ मिथ्या दिखावा कर रही हैं। छाता-जूता-कुरता-पहनावा बराबर ही रहेंगे। वरन् यह सुनाई पड़ेगा कि सभ्यता की ज्यों-ज्यों उन्नति होगी, त्यों-त्यों काव्य क्रमशः लुप्त होता जायगा—किन्तु छाते-जूते के नये नये पेटेण्ट किस्म निकलते रहेंगे।

●

४८

बोलपुर

शनिवार, १६ जेठ १८९२

यहाँ रात के समय किसी गिरजाघर की घड़ी में घण्टे नहीं बजते, और आस-पास किसी का मकान न रहने के कारण पक्षियों का चह-चहाना बन्द होने के साथ ही सन्ध्या के बाद से बिलकुल ही परिपूर्ण निस्तब्धता आरम्भ हो जाती है। प्रथम रात्रि में और अर्धरात्रि में विशेष कोई अन्तर नहीं रहता। कलकत्ते में अनिद्रा की रात्रि एक बहुत बड़ी गम्भीरी नदी की तरह, खूब धीरे-धीरे बहती रहती है, बिछौने पर आँखें बन्द करके चित लेटकर उसकी गति और उसके शब्दों की गणना मन-ही-मन की जा सकती है। यहाँ की रात्रि मानो एक बहुत बड़ी तरङ्गहीन झील की तरह है। शुरू से आखिर तक समान भाव से फैल गई है, कहीं भी कोई बाधा नहीं है। जितना ही इस करवट लेटता हूँ या जितना ही उस करवट फिरता हूँ, अनिद्रा का समान रूप बना रहता है, उसमें प्रवाह का लेशमात्र भी नहीं रहता। आज सवेरे कुछ देर से नींद टूटी, तो मैं अपने सोने की कोठरी में तकिये के सहारे बैठा

हुआ, गोद में स्लेट रख, पैर के ऊपर पैर रख; प्रातःकाल की हवा और चिड़ियों की बोली के बीच एक कविता लिखने लगा था। भाव बहुत ही जम चुके थे—चेहरा हँसी से भरा हुआ था, आँखें कुछ-कुछ बन्द थीं। सिर बारम्बार हिल रहा था और गुन-गुनाहट भरी आवृत्ति क्रमशः स्पष्टतर होने लगी थी—ऐसे ही समय में एक चिट्ठी, एक साधना, एक साधना का प्रूफ और एक Monist अखबार मेरे पास आ गये। चिट्ठी मैंने पढ़ डाली, और साधना के पन्नों पर सरसरी तौर से अपनी निगाह दौड़ा दी। उसके बाद फिर सिर हिलता हुआ अस्फुट गुञ्जन स्वर से कविता लिखने लगा! विचार उठा कि, इसे खतम करके ही फिर दूसरा काम हो सकता है! एक कविता लिख डालने से जैसा आनन्द होता है, हजार गद्य लिख देने से भी वैसा क्यों नहीं होता, यही मैं सोचने लगा। कविता में मन का भाव बहुत कुछ सम्पूर्णता प्राप्त करता है; अच्छी तरह अपने हाथों से उठा लेने की तरह। और गद्य मानो एक चीज है जिसे एक जगह रख देने से समूचा, सहूलियत से उठाया नहीं जा सकता; एकदम एक साथ उठाने से बोझ सा बन जाता है। यदि प्रतिदिन एक-एक कविता लिखकर खतम कर सकूँ तो इन मुल्कों में जीवन एक तरह से बहुत आनन्दपूर्वक बीत जाता है। किन्तु इतने दिनों से मैं साधना करता आ रहा हूँ, अभी तक उसपर मेरा अच्छी तरह अधिकार नहीं हुआ है। प्रतिदिन लगाम पहनाया जा सके ऐसा यह घोड़ा नहीं है। आर्ट एक प्रधान आनन्द है, स्वाधीनता जैसा आनन्द! अपने को बहुत दूर ले जाया जाता है, उसके बाद फिर [illegible] भी बड़ी देर तक कानों में एक झंकार और मन में एक स्फूर्ति लगी रहती है। ये छोटी-छोटी कविताएँ आप ही आप आ पड़ती हैं, इसीलिये अब नाटक में हाथ लगा नहीं सकता। नहीं तो दो-तीन भावी नाटकों के उम्मेदवार बन-ठनकर दरवाजे ठेल रहे हैं। भय लगता है कि जाड़े की

ऋतु के पहले उनमें हाथ लगाया नहीं जा सकता। उस समय गीति-काव्य का आवेग कुछ ठण्ढा हो जाता है। बहुत कुछ शान्ति और स्थिर भाव से नाटक लिखा जा सकता है।



४६

बोलपुर
२१ मई १८९२

अभी पाँच नहीं बजे हैं, किन्तु उजाला हो गया है, हवा खूब बह रही है और बगीचे की सभी चिड़ियाँ जागकर गाने लगी हैं। कोयल तो गाते-गाते ऊब गयी है। वह किस लिये इतना लगातार बोलती रहती है, अभी तक यह समझ में नहीं आया—अवश्य ही वह हमें मधुर गान सुनाने के लिये नहीं, विरहिनी को कष्ट देने के अभिप्राय से नहीं, अवश्य ही उसका अपना कोई पर्सनल उद्देश्य है, किन्तु अभागी का वह उद्देश्य किसी तरह भी सिद्ध नहीं होता। बोलना छोड़ती भी नहीं है—कुहू-कुहू बोलना जारी है। फिर कभी कभी कुनुनी घबड़ाहट में पड़कर और तेज कुहू ध्वनि कर रही है। इसका अर्थ क्या है? फिर और कुछ दूर एक दूसरी चिड़िया एकदम मीठे स्वर से कुक्-कुक् बोल रही है—उसकी बोली में जरा भी उत्साह-आग्रह की झनकार नहीं है; वह मानो एकदम उत्साह खो चुकी है, आशा भरोसा सब छोड़ चुकी है, फिर भी छाया में बैठकर सारा दिन वह कुक् कुक् कुक् बोलना नहीं छोड़ सकती। वास्तव में पंखवाले ये छोटे छोटे निरीह जीव, अति कोमल गरदन, छाती और पाँच तरह के रंग लिये, पेड़ों की छाया में बैठकर अपने काम-धन्धे कर रहे हैं—उनका असली हाल

कुछ भी मैं नहीं जानता। वास्तव में मैं समझ नहीं सकता कि इतना तोलने की इन्हें क्या जरूरत है।

५०

सिलाईदह
सोमवार, ३१ जेष्ठ १८९२

ये सब शिष्टाचार मुझे अच्छे नहीं लगते। आजकल मैं बैठा बैठा प्रायः यहीं गुनगुनाता रहता हूँ—'इससे तो अच्छा था कि मैं रहता "अरबी बेदुइन" एकदम स्वस्थ, सबल, उन्मुक्त असभ्य। इच्छा होती है कि, दिनरात आचार-विचार विवेक-बुद्धि के फेर में न पड़कर, कुछ बहुत दिनों की जीर्णता में शरीर-मन को अकाल में जराग्रस्त न करके एक द्विधाहीन, चिन्ता-रहित प्राण लेकर एक प्रबल जीवन का आनन्द प्राप्त करूँ। मेरे मन में जो वासनायें हैं, जितनी कामनायें हैं, चाहे वे भली हों या बुरी हों, संश[illegible] और प्रशस्त हो जायँ। प्रथाओं के साथ बुद्धि का, [illegible] का, इच्छा के साथ कामों का दिन रात संघर्ष [illegible] अवरुद्ध जीवन को खूब उद्दाम और उछृङ्खल भाव से मैं स्वतन्त्र बना सकता, एक दम चारों तरफ तरंगें चलाकर तूफान ला सकता, एक जंगली घोड़े की तरह निश्चिन्ता पूर्वक तीव्र वेग से दौड़ने लगता तो मुझे कितनी खुशी होती! किन्तु मैं बेदुइन नहीं हूँ, मैं हूँ बंगाली। मैं एक कोने में बैठकर, छोटी सी छोटी बातों को सोचता रहूँगा, विचार करता रहूँगा, तर्क करता रहूँगा, अपने मन को एक बार उलट दूँगा, एक बार पलट दूँगा—ठीक उसी तरह जिस प्रकार मछली पछाड़ी जाती है, खौलते हुए तेल में जैसे वह एक तरफ खूब पक जाती है तो उलट देने पर फिर दूसरी

तरफ भी खूब पक जाती है। किन्तु इस इस विचार को छोड़ ही दें तो ठीक है। क्योंकि जब कि विधिवत् असभ्य बनना सामर्थ्य में नहीं है, तब विधिवत् सभ्य बनने की चेष्टा करना ही उचित है। सभ्यता और बर्बरता में लड़ाई उपस्थित करने की जरूरत नहीं है।



५१

शिलाईदह

बुधवार, १६ जून १८९२

अपनी इच्छा के अनुसार किसी नदी में या किसी गाँव की खुली जगह में हम जितना ही रहने लगते हैं उतने ही स्पष्ट रूप से प्रतिदिन हम समझने लगते हैं कि, अपने जीवन के दैनिक काम-काज, सहज भाव से करते रहने की अपेक्षा सुन्दर और बड़ी बात दूसरी कुछ भी नहीं हो सकती। खेतों में उगी घास से लेकर आकाश के तारे तक सभी यही कर रहे हैं। कोई भी अपने शारीरिक बल का प्रयोग करके अपनी सीमा को अत्यन्त अधिक अतिक्रम [illegible] करता, यही कारण है कि प्रकृति में ऐसी गम्भीर [illegible] अपार सौन्दर्य है। फिर भी प्रत्येक को जो काम करना पड़ रहा है वह बहुत साधारण नहीं है। घास अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग करती है, तभी वह घास के रूप में टिकी रहती है, उसे अपनी जड़ की आखिरी छोर तक रस को खींचना पड़ता है। वह अपनी शक्ति को लाँघकर बड़ का पेड़ बनने की निष्फल चेष्टा नहीं करती, इसीलिए तब पृथ्वी ऐसी सुन्दर और श्यामल बनी हुई है। वास्तव में बड़ी-बड़ी उत्तेजनाओं और लम्बी चौड़ी बातों से नहीं, किन्तु प्रतिदिन के छोटे-छोटे कर्तव्यों का पालन करते रहने से ही मनुष्य समाज में यथायोग्य शोभा और शान्ति विराज

रही है। कवित्व हो या वीरत्व हो, इनमें से कोई भी अपने ही अपने में परिपूर्ण नहीं है, किन्तु एक अति छोटे कर्तव्य में भी तृप्ति और सम्पूर्णता है। बैठे-बैठे निरर्थक हँसी मजाक करना, कल्पना करते रहना, किसी भी अवस्था को अपने योग्य न समझना, और इसी बीच सामने से समय बीत जाने देना, इनसे बढ़कर घृणित बात और कुछ भी नहीं हो सकती। जब हम मन-ही-मन प्रतिज्ञा कर लेते हैं, अपने सारे कर्तव्य कर्मों का हम यथाशक्ति, सच्चाई के साथ, बल के साथ, हृदय के साथ, सुख-दुःखों का सामना करते हुए पालन करते रहेंगे, और जब हमें विश्वास हो जायगा कि हम इन्हें कर सकेंगे, तब हमारा समस्त जीवन आनन्द से परिपूर्ण हो उठता है। छोटी और तुच्छ व्यथा वेदनाएँ दूर हो जाती हैं। अवश्य ही मेरे जीवन का प्रति दिन और प्रति मुहूर्त मेरे सम्मुख अभी प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित नहीं है, इसी कारण शायद दूर से हठात् एक काल्पनिक आशा के उच्छ्वास से मैं फूल उठता हूँ, सभी छोटे-मोटे साधारण तुच्छ गड्ढों और सङ्कटों को छोड़कर भावी जीवन का एक [illegible] [illegible] [illegible] एक तरह की सान्त्वना पा रहा हूँ, किन्तु यह ठीक नहीं है।

●

५३

सिलाईदह

बुधवार, २ आषाढ़ १[illegible]

कल आषाढ़ के पहले दिन, वर्षा का नव-राज्याभिषेक खूब ही विधि-पूर्वक आडम्बर के साथ सम्पन्न हो गया। दिन को खूब गर्मी थी, शाम होते-होते बादलों की भारी घटाएँ आकाश में छा गयीं।

कल मैंने यह सोचा कि वर्षा का प्रथम दिवस है, आज भीग जाना

अच्छा है, किन्तु अन्धकूप की तरह दिन न बिताऊँगा। जीवन में १८६६ साल फिर द्वितीय बार न आवेगा। विचारपूर्वक देखने से मालूम होता है कि आषाढ़ का पहला दिन और भी कई बार आवेगा—सबको एकत्र करने से यदि तीस दिन हो जायँ तो भी खूब दीर्घ जीवन मिला है, यह कह सकते हैं। मेघदूत काव्य जब लिखा गया तभी से आषाढ़ का पहला दिन विशेष चिह्नित दिन बन गया है, कम-से-कम मेरे लिए। मैं प्रायः ही किसी-किसी समय सोचने लगता हूँ, कि मेरे जीवन में यह जो एक-एक दिन बराबर प्रति दिन आता रहता है—कोई तो सूर्योदय से या सूर्यास्त से लाल बना रहता है, कोई पूर्णिमा की ज्योत्स्ना से सफेद फूल की तरह प्रफुल्ल रहता है, ये सब क्या मेरे लिए कम सौभाग्य की बात है? और ये सब क्या कम मूल्यवान् हैं। एक हजार वर्ष पहले कालिदास ने आषाढ़ के प्रथम दिवस की यह जो अभ्यर्थना की थी, मेरे जीवन में भी प्रतिवर्ष आषाढ़ का वही प्रथम दिन अपने समस्त आकाशव्यापी ऐश्वर्य को लेकर उदय होता है। वही प्राचीन उज्जयिनी के प्राचीन कवि का, वही बहुत दिनों के सैकड़ों सुख-दुःख विरह-मिलनमय नर-नारियों के आषाढ़ का प्रथम दिवस! वही अति पुरातन आषाढ़ का प्रथम महा-दिन मेरे जीवन में प्रति वर्ष एक एक करके घटता जा रहा है, अन्त में एक समय आवेगा जब यह कालिदास का दिन, यह मेघदूत का दिन, यह भारतवर्ष की वर्षा का चिरकालीन प्रथम दिन, मेरे भाग्य में फिर एक भी बाकी न रहेगा। यह बात अच्छी तरह सोचने पर इस पृथ्वी की तरफ फिर अच्छी तरह देखने की इच्छा होती है, इच्छा होती है कि जीवन के प्रत्येक सूर्योदय को सज्ञान भाव से अभिवादन करूँ और प्रत्येक सूर्यास्त को परिचित मित्र की तरह बिदा कर दूँ। यदि मैं साधु स्वाभाव का मनुष्य रहता तो शायद मैं यही सोचता कि जीवन नश्वर है, इसलिए प्रति दिन इसे व्यर्थ खर्च न करके सत्कार्यों में और हरिनाम जपने में बिताऊँ। किन्तु मेरा

स्वभाव वैसा नहीं है—इसीलिए कभी-कभी मेरे मन में विचार उठता है कि ऐसे सुन्दर दिन और ऐसी सुन्दर रातें मेरे जीवन से प्रति दिन चली जा रही हैं, मैं इनको पूर्णरूप से ग्रहण नहीं कर सकता। ये सब रङ्ग, यह प्रकाश और छाया, यह आकाशव्यापी निःशब्द समारोह, इस स्वर्ग लोक-भूलोक के बीच की समस्त भरी हुई शान्ति और सुन्दरता, इनके लिए क्या कम आयोजन चल रहा है! कितने बड़े उत्सव का यह क्षेत्र है! और हम लोगों के भीतर अच्छी तरह उसका उत्तर नहीं मिलता! संसार से हम इतनी दूरी पर रहते हैं! लाख-लाख योजनों की दूरी से, लाख-लाख वर्षों से अनन्त अन्धकार के मार्ग से यात्रा करते हुए तारा का प्रकाश इस पृथ्वी पर आ पहुँचता है, पर हमारे हृदयों में आकर प्रवेश नहीं करता—मानो वह और भी लाख योजन दूर है। रङ्गीन प्रभात और रङ्गीन सन्ध्या समय दिग्वधुओं के छिन्न-कण्ठहार से एक-एक माणिक की तरह समुद्र के जल में गिरता जा रहा है, हमारे मन में उनमें से एक भी आकर नहीं गिरता। विलायत जाने के रास्ते में लाल सागर के स्थिर जल के ऊपर मैंने जो एक अलौकिक सूर्यास्त देखा था, वह कहाँ चला गया। किन्तु सौभाग्यवश मैंने देखा था, सौभाग्यवश मेरे जीवन में वह एक सन्ध्या उपेक्षित होकर व्यर्थ नहीं हुई—अनन्त दिन रात में उस एक अत्याश्चर्य सूर्यास्त को मेरे सिवा संसार के और किसी कवि ने नहीं देखा। मेरे जीवन में उसका रङ्ग रह गया है। ऐसा एक-एक दिन, एक-एक सम्पत्ति की तरह है! पेनेटी के बगीचे के मेरे कई दिन, तिमञ्जिले की छत के ऊपर की कई रातें, पश्चिम और दक्षिण बरामदे में बीते कई बरसाती दिन, चन्दननगर की गङ्गा की कई सन्ध्याएँ, दार्जिलिङ्ग में सिञ्चल शिखर का एक सूर्यास्त और चन्द्रोदय, ऐसे ही कितने उज्ज्वल सुन्दर क्षण खण्ड मानो मेरे यहाँ फाइल में जमा हैं। लड़कपन में वसन्त की ज्योत्स्नापूर्ण रातों में जब मैं छत पर पड़ा रहता था, तब ज्योत्स्ना मानो मदिरा के [illegible]

फेन की तरह एकदम उफना कर मुझे नशे में डुबा देती थी। मैं किस पृथ्वी पर आ गया हूँ, उसके मनुष्य अद्भुत प्राणी हैं, ये लोग केवल दिन रात नियम की दीवालें बना रहे हैं, पीछे कहीं दोनों आँखें कुछ देख न लें, इस भय से बड़े यत्न से परदा टाँग रहे हैं। वास्तव में इस पृथ्वी के जीवगण बहुत अद्भुत हैं। इन लोगों ने फूलों के पौधों के ऊपर एक-एक ढक्कन नहीं रख दिया है। चन्द्रमा के नीचे, चँदुवा नहीं टाँगा है, यही आश्चर्य है। स्वेच्छा से बने ये अन्धे, बन्द पालकी में चढ़कर पृथ्वी के भीतर जाने क्या देखते चले जा रहे हैं। यदि वासना और साधना के अनुरूप परकाल रहता, तो चाहता हूँ कि इस बार मैं इस ओहार से ढँकी पृथ्वी से निकल कर, एक उदार उन्मुक्त सौन्दर्य के आनन्द-लोक में जाकर जन्म-ग्रहण कर लेता। जो लोग सौन्दर्य में सचमुच ही निमग्न होने में असमर्थ हैं, वे ही लोग सौन्दर्य को केवल इन्द्रिय का धन कहकर उसकी अवज्ञा करते हैं। किन्तु इसमें जो अनिर्वचनीय गम्भीरता है, उसका स्वाद जिन्हें मिला है, वे लोग जानते हैं, कि सौन्दर्य इन्द्रिय की चूड़ान्त शक्ति के भी परे है

मैं भले आदमी के रूप में शहर के बड़े-बड़े रास्तों से आना-जाना कर रहा हूँ, बने हुए भले आदमियों के साथ भद्रता के साथ बातचीत करके जीवन व्यर्थ बिता रहा हूँ। मैं भीतर से असभ्य हूँ, अभद्र हूँ—मेरे लिये कहीं भी कोई अराजकता नहीं है, कुछ पागल हुए लोगों का आनन्द-मेला नहीं है। किन्तु मैं यह सब क्या बकता जा रहा हूँ—काव्य के नायक लोग ऐसी ही बातें कहा करते हैं, Conventionality के ऊपर तीन-चार पन्नों भरा स्वागत में उक्ति का प्रयोग करते हैं, अपने को समस्त मानव-समाज की अपेक्षा बड़ा समझते हैं। वास्तव में, ये सब बातें कहने में लज्जा मालूम होती है। इसके अन्दर जो सत्य निहित है, वह बहुत दिनों से धीरे-धीरे दबता जा रहा है। संसार में [illegible]

बड़ी-बड़ी बातें कहते हैं, उनमें मैं एक अग्रगण्य हूँ। हठात् इतनी देर में इस विषय में चेतना हुई।

पुनः—जो असल बात मैं कहने जा रहा था, उसे कह डालूँ, डरने की बात नहीं है, फिर चार पन्ने न भरेंगे—बात यह है कि, आषाढ़ के पहले दिन शाम को खूब मूसलाधार वृष्टि हो चुकी है। बस्!



५४

सिलाईदह

शुक्रवार, ४ आषाढ़ १८९२

आजकल मैं तीसरे पहर लगभग सन्ध्या समय नदी के किनारे जाकर तटभूमि पर बड़ी देर तक टहलता रहता हूँ। पूरब तरफ घूम जाता हूँ तब एक तरह का दृश्य देखता हूँ और जब पश्चिम तरफ घूम जाता हूँ तो दूसरा दृश्य देख पाता हूँ—मालूम होता है मानो आकाश से मेरे सिर के ऊपर सान्त्वना बरस रही है। मेरी दोनों मुग्ध आँखों के भीतर से मानो एक स्वर्णमय मङ्गल की धारा मेरे हृदय में प्रवेश कर रही है। इस हवा में, आकाश में और प्रकाश में, प्रतिक्षण मेरे मन को घेर कर मानो नयी पत्तियाँ उगने लगती हैं, मानो मैं नये प्राण और नये बल से परिपूर्ण होता जा रहा हूँ। संसार के सब कामकाज करना और लोगों के साथ व्यवहार करना मेरे लिये बहुत सहज हो गया है। असल में सब कुछ सीधा है, एक मात्र सीधा रास्ता मौजूद है। और मैं देखते हुए उसी रास्ते से जाने से ही काम बन जायगा, तरह तरह की बुद्धि का प्रयोग करके Short cut ढूँढ़ने की मैं कोई जरूरत नहीं देखता, सुख-दुःख सभी रास्तों में हैं, किसी भी रास्ते से

चलकर उनसे बचने का कोई उपाय नहीं है, किन्तु शान्ति केवल इस बड़े रास्ते में ही है।

५५

सिलाईदह
बृहस्पतिवार, ७ भादों १८९२

शरत् का प्रभात काल बहुत ही सुन्दर है। आँखों में वह कैसी सुधा बरसा रहा है उसका मैं क्या वर्णन करूँ। हवा भी वैसी ही सुन्दर बह रही है और चिड़िया बोल रही हैं। इस भरी हुई नदी के किनारे, वर्षा के जल से प्रसन्न नवीन पृथ्वी के ऊपर शरत् की सुनहली आभा देखने से मालूम होता है, मानो हमारी इस नवयौवना धरणी-सुन्दरी के साथ, किसी एक ज्योतिर्मय देवता का प्रेम-सम्बन्ध चल रहा है, इसीलिये यह उजाला है, यह हवा है, यह आधा उदास और आधा सुख का भाव है, पेड़ों की पत्तियों और धान के खेतों में यह निरन्तर स्पन्दन है, जल में ऐसी अगाध परिपूर्णता है, स्थल पर ऐसी श्याम शोभा है, आकाश में ऐसी निर्मल नीलिमा है। जैसे प्रेम में एक ऐसा गुण मौजूद है, जिसके सामने संसार की बड़ी-बड़ी घटनायें भी तुच्छ मालूम होती हैं, वैसे ही यहाँ के आकाश में, जो एक तरह का भाव फैला हुआ है, उसके सामने कलकत्ते की दौड़-धूप, उछल-कूद इतनी छटपटाहट, धरधराहट बहुत ही तुच्छ और अत्यन्त दूरवर्ती मालूम होते हैं। चारों तरफ से आकाश, प्रकाश, वायु और संगीत एक तरह से सम्मिलित रूप में आकर मुझे अत्यन्त लघु समझकर मानो अपने साथ मुझे मिला चुके हैं। मेरे समूचे मन को मानो कोई तूलिका से इस रङ्गीन शरद् प्रकृति के ऊपर एक और रंग पोत रहा है—इस कारण

इन गहरे, सुनहले रंगों के ऊपर मानो एक और नशे का रंग लग गया है। बहुत अच्छा लग रहा है। कौन जाने यह प्राण क्या चाहता है, कहने में यह लज्जा मालूम होती है, और शहर में रहता तो नहीं कहता, किन्तु वह सोलहों आने कवित्व न होने पर भी यहाँ कहने में दोष नहीं है। अनेक पुरानी सूखी कविताएँ, जो कलकत्ते में उपहास की आग में जलाकर फेंक देने लायक मालूम होती हैं, वे यहाँ आते ही देखते-देखते मुकुलित पल्लवित हो उठती हैं।



५६

गोलाअन्दो के रास्ते
२१ जून १८९२

आज सारा दिन नदी के ऊपर जल मार्ग से चल रहा हूँ। यही आश्चर्य मालूम हो रहा है कि, कितनी बार इस रास्ते से यात्रा कर चुका हूँ, इस बोट पर चढ़कर जल ही जल में घूम चुका हूँ, और नदी के दोनों तटों के बीच से जल पर बहते जाने का जो आनन्द है उसका उपभोग कर चुका हूँ—किन्तु दो दिन किनारे जमीन पर बैठे रहने से उस आनन्द की याद अच्छी तरह अब नहीं रह सकती। यह जो अकेले चुपचाप बैठकर ताकते रहना—दोनों तरफ गाँव घाट, अनाज के खेत-रेती विचित्र दृश्य दिखाई पड़ते हैं, चले जाते हैं। आकाश में बादल मँडरा रहे हैं और शाम को तरह-तरह के रंग खिल उठते हैं। नावें चल रही हैं, मछुए मछली पकड़ रहे हैं। दिनरात जल की आदर भरी एक तरह की आवाज सुनाई पड़ रही है; शाम को विस्तृत जल राशि गोद में सोये हुए बच्चे की तरह एकदम स्थिर होती जा रही है, और उन्मुक्त आकाश के सभी तारे सिर के ऊपर जागते हुए ताक रहे हैं।

गम्भीर रात्रि में जिस दिन नींद नहीं आती, उस दिन उठकर देखता हूँ कि अन्धकाराच्छन्न दोनों तट निद्रामग्न हैं, अब तब केवल गाँव के जंगल में सियार बोल रहे हैं और पद्मा के नीरव प्रखर स्रोत से झुप-झुप करके करारा खिसककर गिर रहा है—ये सब परिवर्तनशील चित्र ज्यों-ज्यों दृष्टि में पड़ते रहते हैं त्यों-त्यों मन के भीतर एक कल्पना का स्रोत बहता रहता है और उसके दोनों किनारे, तट-दृश्य की तरह नई आकांक्षाओं से चित्रित दिखाई पड़ते रहते हैं। सामने का दृश्य कोई बहुत सुन्दर आकर्षक नहीं है, एक पीले रंग की तृण तरुशून्य बालू की रेती धू-धू कर रही है, उसके ही साथ एक शून्य नाव बँधी हुई है और आकाश की छाया में फीकी-नीली नदी बहती जा रही है—देखने से मन के अन्दर कैसा करने लगता है यह मैं बता नहीं सकता। सम्भवतः अपने बचपन में जब मैं आरब्योपन्यास पढ़ता था, सिन्दबाद तरह-तरह के नये-नये देशों में व्यापार करने के लिए चला जाता था, गुरुओं के शासन में रहने वाला मैं तोशाखाने में बन्द रहकर बैठा बैठा दोपहर को सिन्दबाद के साथ घूमता फिरता था, उस समय जो आकांक्षा मन में जाग उठी थी, वह मानो अभी तक बची हुई है—बालू की उस रेती पर नाव बँधी देखने से मानो वही चञ्चल भाव जाग्रत हो उठता है। बचपन में यदि आरब्य उपन्यास ही मैंने पढ़ा होता, राबिन्सन क्रूसो न पढ़ा होता, कल्पित कहानियाँ न सुनी होतीं, तो मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि, वह नदी का तट और मैदान के छोर का दूरवर्ती दृश्य देखकर मेरे मन में ठीक ऐसा भाव उदय नहीं होता, समूची पृथ्वी का आकार मेरे लिये और एक किस्म का बन गया होता। मनुष्य के छोटे से मन के अन्दर वास्तविकता और काल्पनिकता दोनों एक साथ मिल जुलकर क्या ही एक जाल बिछाये हुए हैं। पता नहीं चलता कि किसके साथ क्या गुँथा हुआ है, कितनी कहानियों के साथ, कितने चित्रों के साथ, कितनी घटनाओं के साथ, अनेक

जकड़कर गाँठें पड़ गयी हैं—प्रतिदिन अनजान में ये सभी उलझनें बढ़ती जा रही हैं। एक मनुष्य के एक जीवन का जाल खोल सकने से, कितनी छोटी और कितनी ही बड़ी बातों का मिश्रण पृथक् किया जा सकता है।



५७

शिलाईदह
सोमवार, २२ जून १८६१

आज खूब भोर में बिछौने पर लेटे-लेटे मैं सुन रहा था, स्त्रियाँ घाटपर उत्सव ध्वनि कर रही हैं। सुनते ही मन कुछ घबड़ा उठा, किन्तु उसका कारण क्या था समझना कठिन था। सम्भवतः इस तरह की एक आनन्द-ध्वनि से हठात् अनुभव किया जाता है कि, संसार में एक बहुत बड़ा कर्म-प्रवाह चल रहा है, जिनमें से अधिकांश के साथ मेरा सम्पर्क नहीं है, संसार के अधिकांश मनुष्य मेरे कोई नहीं है, फिर भी उनके कितने ही काम-काज, सुख-दुःख, उत्सव-आनन्द चल रहे हैं। यह संसार क्या ही बड़ा मानव-संसार है। कितनी दूर से जीवन की ध्वनि प्रवाहित होती आती है—सम्पूर्ण अपरिचित घर की थोड़ी सी वार्ता मिलती है। मनुष्य जब समझ सकता है—अपने लिए मैं जितना ही बड़ा क्यों न रहूँ, अपने से मैं समूचे विश्व को परिपूर्ण नहीं कर सकता, अधिकांश जगत् ही मेरे लिए अज्ञात, अज्ञेय, अनात्मीय और मुझसे हीन है — तब इस प्रकार होने वाले जगत् में हम अपने को बहुत छोटा और एक तरह से परित्यक्त और आनन्दहीन समझने लगते हैं। तभी शायद मन में इस तरह का एक व्यापक विषाद का उदय होता है। इसके सिवा इस आनन्द-ध्वनि से अपने अतीत भविष्य का समस्त

जीवन एक अति सुदीर्घ पथ की तरह आँखों के सामने जाग उठा और उसके ही एक एक सुदूर छायामय प्रान्त से यह आनन्द ध्वनि कानों में आने लगी। इसी तरह के भावों में तो आज मैंने दिन आरम्भ किया है। इसी क्षण सदर नायब, कर्मचारीगण और प्रजाजन आ जायेंगे तो इस आनन्द-ध्वनि की प्रतिध्वनि मुहल्ला छोड़कर भाग जायगी; अति क्षीण भूत-भविष्य को दोनों केहुनियों से ठेलकर हटाता हुआ नौजवान वर्तमान, अपनी मूर्ति धारण कर सलामी बजाता हुआ आ खड़ा होगा।



५८

शाहजाद पुर
२८ जून, १८६६

आज जो चिट्ठी मिली है, उसमें एक जगह अ........के गान का जरा उल्लेख है। पढ़कर मनमें हठात् एक तरह की अकुलाहट होने लगी। जीवन के बहुत से ऐसे छोटे-छोटे उपेक्षित सुख हैं, जो शहर के कोलाहलों में अपना कुछ भी प्रभाव नहीं रखते, वे ही विदेश में आने पर अपना समय समझकर अपनी-अपनी दरख्वास्त पेश कर देते हैं। मैं गान वाद्य इतना पसन्द करता हूँ, और शहर में भी बहुत कण्ठ और वाद्य मौजूद हैं, किन्तु दिन पर दिन बीत जाते हैं, एक दिन भी उन पर मेरा ध्यान नहीं जाता। यद्यपि इच्छा में अभाव नहीं पाता, किन्तु मन के भीतर क्या तृषित नहीं बना रहता। आज भी चिट्ठी पढ़ने के साथ अ....का मीठा गान सुनने के लिये मेरी ऐसी इच्छा प्रबल हो उठी कि, मैं उसी क्षण समझ गया, कि मेरी प्रकृति के बहुत से क्रन्दनों में यह भी एक क्रन्दन भीतर ही भीतर पड़ा हुआ था। बहुतेरी क्षुद्र-

शाओं के मोह में पड़कर जीवन के छोटे छोटे आनन्दों की उपेक्षा करके हम अपने जीवन को कितना उपवासी बना डालते हैं! जब मैं विलायत जा रहा था, तब मेरी कल्पना और मेरे सुख की एक यह भी तस्वीर थी कि, कोई पियानो बजा रहा है, खुले दरवाजे और जंगले के भीतर से प्रकाश और हवा आ रही है, थोड़ी दूरी पर आकाश और पेड़-पौधे दिखाई पड़ रहे हैं, और मैं खुली खिड़की के पास कोच पर पड़ा दृष्टि स्थिर किये सुन रहा हूँ। यह कोई दुर्लभ दुराशा है यह तो मैं नहीं कह सकता, किन्तु तीन सौ पैंसठ दिनों में कितने दिन यह सुख मिलता है! इन सुलभ आनन्दों की अपरितृप्ति जीवन के हिसाब से बढ़ती जा रही है। इसके बाद ऐसा भी एक दिन आ सकता है जब ऐसा मालूम होगा कि यदि फिर जीवन का पूरा भाग मैं पा जाऊँ तो उस हालत में मैं कोई दूसरा असाध्य कर्म करना न चाहूँगा, केवल अपने जीवन के प्रतिदिन के अपचित इन छोटे-छोटे आनन्दों को प्रतिदिन भोग लूँगा।

●

५६

शाहजादपुर

सोमवार, २७ जून १८९२

कल लगभग संध्याको ऐसी हालत हुई कि मैं डर गया। ऐसे क्रोधी चेहरे के बादल मैंने कभी देखे हैं, इसकी याद मुझे नहीं पड़ती। गाढ़े नीले बादल क्षितिज के पास एक एक करके जमा होते जा रहे थे, मालूम होता था मानो एक बहुत ही हिंस्र दैत्य की दोनों मूछें क्रोध के आवेश से फूल उठी हैं। इस घने नीले बादल के ठीक पास ही क्षितिज के अन्त में छिन्न बादल के भीतर से चमकदार लाल आभा

निकल रही है—मानो एक आकाशव्यापी प्रकाण्ड अलौकिक 'बाइसन' महिष पागल हो उठा है और अपनी दोनों लाल आँखें घुमाकर अपने नीले केसरों को फुलाकर अपना सिर वक्र भाव से नीचे झुकाकर खड़ा है। मानो वह इसी क्षण सींग से मारना शुरू कर देगा—और इस आसन्न संकट के समय संसार के सब अनाज के खेत और पेड़ों की पत्तियाँ थर-थर काँप रही हैं, जल का ऊपरी भाग सिहर-सिहर उठता है, कौए अशान्त भाव से उड़ उड़कर काँ-काँ शब्द करते हुए बोल रहे हैं।



६०

शाहजादपुर
२९ जून, १८९२

कल की चिट्ठी में मैंने लिखा था, कि आज अपराह्न में सात बजे कवि कालीदास के साथ एक इङ्गेजमेण्ट होगा। बत्ती जलाकर टेबिल के पास आराम कुर्सी खींचकर, हाथ में पुस्तक लिये खूब तैयार होकर मैं बैठा ही था कि उसी समय कवि कालिदास के बदले यहाँ के पोस्ट-मास्टर आ धमके। मरे हुए कवि की अपेक्षा एक जीवित पोस्टमास्टर का दावा अधिक है। मैं उनसे यह न कह सका—'आप अब जाइये, कालिदास के साथ मेरा कुछ विशेष प्रयोजन है।' कहने से भी वे मेरी यह बात अच्छी तरह न समझ सकते। इस कारण [illegible] कुर्सी छोड़कर कालिदास को धीरे-धीरे विदा होना पड़ा। इस पोस्टमास्टर के साथ मेरा एक विशेष सम्बन्ध है। जब इस मकान के निचले तल्ले में ही पोस्टआफिस था, और प्रतिदिन मैं इसको देख सकता था, तभी एक दिन दोपहर को इस दुतल्ले पर बैठकर उस पोस्टमास्टर की

कहानी लिखी थी। और जब वह कहानी 'हितवादी' में निकल गयी तब हमारे पोस्टमास्टर साहब उसका उल्लेख कर बहुत ही लज्जामिश्रित हँसी हँस पड़े थे। जो हो, इनको मैं बहुत पसन्द करता हूँ। तरह-तरह की बहुत सी बातें वे कहते रहते हैं और मैं चुपचाप बैठा हुआ सुनता रहता हूँ। उस बातचीत में ही उनका बहुत कुछ हास्यरस भी छिपा रहता था।

पोस्टमास्टर के चले जाने पर उस रात को मैंने फिर रघुवंश लेकर पढ़ डाला। इन्दुमती का स्वयंवर पढ़ रहा था। सभा में सिंहासन पर पाँत के पाँत सुसज्जित सुन्दर चेहरे वाले राजा लोग बैठे हुए हैं, उसी समय शङ्ख और तुरीध्वनि के बीच विवाहवेश में सुनन्दा का हाथ पकड़े इन्दुमती उनके बीच सभामार्ग में आ खड़ी हुई। इस चित्र को याद करना बहुत सुन्दर मालूम होता है। उसके बाद एक-एक करके सबका परिचय देने लगती हैं और अनुराग-विहीन इन्दुमती एक-एक को प्रणाम करती हुई चली जा रही है। उनका यह प्रणाम करना कितना सुन्दर है! जिसको छोड़कर चली जाती हैं उसको नम्रता के साथ प्रणाम करती हुई, सम्मान प्रकट करती हुई, इससे कुछ अच्छा मालूम हो रहा है। सभी राजा हैं, सभी उनसे उम्र में बड़े हैं, इन्दुमती एक बालिका हैं, वे उन लोगों को एक एक करके देखकर छोड़ती चली जा रही हैं, यदि एक-एक सुन्दर प्रणाम करके, अपनी इस कठोरता को दूर करती हुई वे न जातीं तो इस दृश्य का सौन्दर्य नहीं रहता।

●

६१

शाहजादपुर,
७ जुलाई १८९२

कल रात को मैंने एक नये प्रकार का सपना देखा था। मानो

कहीं एक जगह लेफ्टिनेण्ट गवर्नर आये हैं और उनकी अभ्यर्थना के उपलक्ष्य में उत्सव हो रहा है। बहुत तरह के आमोद-प्रमोद हो रहे हैं। उनमें एक यह भी है कि एक तम्बू में एक प्रसिद्ध बूढ़ा ऊँचे स्वर से गीत गा रहा है। वह इमन कल्याण गान गा रहा था। गाते-गाते एकाएक वह गीत का एक अंश भूल गया। दोबारा उसकी आवृत्ति करके उसने भूले हुए अंश को याद करने की चेष्टा की। उसके बाद तीसरी बार वह निराश हो गया और ज्ञान की बातों को छोड़कर केवल सुर ही अलापने लगा। फिर तो एकाएक वही सुर रुलाई में परिणत हो गया। सभी समझ रहे थे कि, वह गाना गा रहा है, अचानक उसका रोना सुनाई पड़ा। उसकी रुलाई सुनकर बड़े भैया 'वाह' 'वाह' बोल उठे। मानो वे यह बात साफतौर से समझ गये कि, एक यथार्थ गुणी के मन में ऐसी घटना से कितना आघात लग सकता है। उसके बाद तरह-तरह के और भी कितने ही क्या-क्या काम हुए और बंगाल के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर कहाँ चले गये, यह सब मुझे जरा भी याद नहीं है।

●

६२

सिलाईदह
२० जुलाई १८९२

आज अभी थोड़ी ही देर पहले प्राण जाने की घड़ी आ गयी थी। पाबटी से सिलाईदह की यात्रा कर रहा था, नाव का पाल बहुत अच्छा मिला था, नाव बहुत तेज गति से चल रही थी। वर्षा की नदी चारों तरफ लहरा रही थी, और जोरदार शब्दों से लहरें उठ रही थीं, मैं

कभी-कभी नजर उठा कर देख रहा था, और कभी-कभी लिखना-पढ़ना भी कर रहा था। दिन के दस बजे गड़ुई नदी का पुल दिखाई पड़ा। बोट का मस्तूल पुल से टकरा जायगा या नहीं, इस बात को लेकर मल्लाह आपस में तर्क करने लगे। इधर बोट पुल की तरफ बढ़ता जा रहा था। मल्लाहों को आशा थी कि हमलोग स्रोत के विपरीत जा रहे हैं, इस कारण कोई चिन्ता नहीं है—क्योंकि पुल के निकट पहुँचने पर भी यदि मालूम होगा कि मस्तूल टकराने वाला है, तो उसी क्षण पाल गिरा देने से बोट स्रोत में पड़कर पीछे खिसक जायगा। किन्तु पुल के पास पहुँचते ही निश्चित जानकारी हो गयी कि, मस्तूल टकरा जायगा और वहाँ एक भँवर भी है। उस भँवर के कारण वहाँ स्रोत की गति विपरीत दिशा को हो गयी है। तब हम लोग समझ गये कि सामने एक विपद आ गयी है, किन्तु बहुत देर तक सोचने का समय नहीं था, देखते-देखते बोट पुल पर जा लगा। मस्तूल सर मारता हुआ धीरे-धीरे झुकने लगा। मैं घबड़ाहट में पड़े मल्लाहों को कहने लगा—'तुम लोग वहाँ से हट जाओ, मस्तूल टूटकर सिर पर गिर जाने से मर जाओगे!' ऐसे ही समय में एक दूसरी नाव झटपट आ गयी। डाँड चलाते-चलाते उसका मल्लाह आ गया और उसने झटपट मुझे उठा लिया और रस्सा लेकर मेरे बोट को खींचने लगा। तपसी और एक दूसरा मल्लाह दाँतों से रस्सी पकड़ कर तैरने लगे और किनारे जाकर वे भी बोट खींचने लगे। और भी लोग वहाँ जमा हो गये और सब मिलकर बोट खींचने लगे। बोट किनारे लग गया। किनारे लोगों की भीड़ जमा हो गयी। सब लोगों ने आकर कहा—'मल्लाह ने बचाया है, नहीं तो बचने की कोई आशा नहीं थी।'

यह सब जड़ पदार्थों के कारनामे थे। हमलोग बहुत दुःखी हुए, चिल्लाने लगे, पर लोहे पर जब काठ टकरा गया और जब नीचे से जल धकेलने लगा, तब जो होना था वह अवश्य हो गया, और ऐसा होता

ही है। जल भी एक क्षण के लिए नहीं रुका, मस्तूल भी तिल मात्र नहीं झुका, लोहे का पुल भी ज्यों का त्यों खड़ा रहा।



६३

सिलाईदह
२१ जून १८९२

कल तीसरे पहर को मैं सिलाईदह पहुँच गया था, आज सवेरे फिर जा रहा हूँ। नदी के रुख का क्या कहना है! मानो पूँछ हिलाता हुआ, केसर फुलाये कोई जंगली घोड़ा चल रहा है। अपनी तेज गति के गर्व से नदी लहरें उठा-उठाकर उमड़ती हुई चल रही है—इस पागल बनी हुई नदी के ऊपर चढ़कर हम हिलते-डुलते चल रहे हैं। इसमें एक भारी उल्लास मौजूद है। खलखलाती हुई नदी से जो आवाज आ रही है उसका मैं क्या वर्णन करूँ। यह छलछल कर रही है; मानो चुप हो ही नहीं सकती, युवावस्था की उन्मत्तता के भाव से मानो विभोर है। अभी तो यह गड़ुई नदी है, यहाँ से हमें पद्मा में जाना पड़ेगा, उसका तो कहीं आरपार कूल किनारा देखने का उपाय नहीं है। वह तो ऐसी कोई स्त्री मानो पागल हो गई है जो उन्मत्त पागल होकर कहीं चली जा रही है, वह मानो कहीं भी स्थिर रहना नहीं चाहती। उसकी याद आते ही मुझे काली की मूर्ति का स्मरण हो आता है—वह नाच रही है, तोड़-फोड़ कर रही है और अपने बालों को बिखेर कर दौड़ती जा रही है। मल्लाह आज कह रहा था कि इस नयी वर्षा के जल से पद्मा में खूब 'धार' हो गयी है। 'धार' शब्द ठीक है। तीव्र स्रोत मानो चमकदार तलवार की तरह है, पतले इस्पात की तरह है जो बिल्कुल काटती हुई चली जाती है यह नदी

अपने दोनों तरफ की तट भूमि को एकदम लापरवाही से तोड़ती-फोड़ती चली जा रही है।

कल जो घटना हुई थी वह कुछ भयङ्कर थी। कल यमराज के साथ एक तरह का सङ्घर्ष करके हम आ गये हैं। ऐसी घटना जब तक नहीं होती तब तक हमें इसकी विशेष सुधि नहीं रहती। रहने पर भी हमें विशेष स्मरण नहीं रहता। कल अचानक ही जिनका आभास मिल गया था, आज उनकी जरा भी याद नहीं पड़ रही है। अप्रिय अनावश्यक मित्र की तरह बिना बुलाये सिर पर आ पड़ने से उनके बारे में हम लोग बहुत कुछ नहीं सोचते। यद्यपि वे आड़ में रहकर छिपे तौर से बराबर ही हम लोगों की खोज-खबर लेती रहती हैं। जो भी हो, उनको मैं बहुत-बहुत सलाम करके बनाये रहता हूँ; मैं उनकी एक कानी कौड़ी की भी तरह परवाह नहीं करता, चाहे वे जल में लहरें उठाते रहें या आकाश से फूँकते रहें—मैं तो अपना पाल तान कर जा रहा हूँ। वे जहाँ तक जो कारवाई कर सकती हैं, उनकी जानकारी सारी दुनिया के लोगों को है, उससे अधिक वे क्या करेंगी। जैसे भी हो, मैं कुछ हल्ला-गुल्ला न करूँगा।

६४

सिलाईदह

२० अगस्त १८९२

प्रति दिन प्रातःकाल जब मैं आँखें उठाकर ताकने लगता हूँ तो मैं अपने बायें तरफ जल और दायें तरफ सूर्य-किरणों से चमकता हुआ नदी का किनारा देख पाता हूँ। [illegible] कोई चित्र देखने पर जिस तरह मन में ख्याल उठता है कि, "अहा, यदि मैं वहाँ रहता" ठीक ऐसी

इच्छा की पूर्ति यहाँ हो जाती है। मालूम होता है कि मैं एक खूब चमकदार तसवीर में निवास करता हूँ, मानो वास्तव जगत् की कोई कठिनाई ही यहाँ नहीं है। लड़कपन में 'राबिंसन क्रूसो', पॉलवर्जिनी, आदि पुस्तकों में पेड़-पौधों और समुद्र के चित्र देखकर मन बहुत ही उदासीन हो जाता था—यहाँ की धूप से उन चित्रों को देखने की मेरी बाल्य-स्मृति बहुत जाग उठती है। इसका अर्थ क्या है, यह बात ठीक मेरी समझ में नहीं आती। यह तो मानो इस वृहत् पृथ्वी के प्रति एक नाड़ी का आकर्षण है। किसी समय जब कि मैं इस पृथ्वी के साथ मिल-जुलकर उसी में निहित था, जब मेरे ऊपर हरी घास उगती थी, शरत् का उजाला पड़ता था, सूर्य-किरण पड़ने से मेरे सुदूर विस्तृत श्यामल अङ्ग के प्रति रोमकूप से यौवन का सुगन्ध भरा उत्ताप उठता रहता था, मैं कितने सुदूरवर्ती स्थानों के कितने देश-देशान्तरों के जलस्थल-पर्वतों को व्याप्त करके आकाश के नीचे निस्तब्ध भाव से पड़ा रहता था—तब शरद् के सूर्यालोक से मेरे वृहत् सर्वाङ्ग में जो एक आनन्दरस एक जीवनीशक्ति, अत्यन्त अव्यक्त अर्धचेतन और अत्यन्त प्रकाण्ड भाव से सञ्चारित होती रहती थी, उसी की याद मानो कुछ-कुछ आ रही है। मेरा जो यह मनोभाव है, यह मानो प्रतिक्षण अङ्कुरित मुकुलित और पुलकित सूर्य से परिशोभित इस आदिम पृथ्वी का ही भाव है। मानो मेरी चेतना का यह प्रवाह पृथ्वी की प्रत्येक घास पर, पेड़ों की जड़ों में, शिराओं में धीरे-धीरे प्रवाहित हो रहा है, सभी शस्यक्षेत्र रोमाञ्चित होते रहते हैं और नारियल वृक्ष की प्रत्येक पत्ती जीवन के आवेग से थर-थर काँप रही है। इस पृथ्वी पर मेरे मन में आत्मीय वत्सलता का जो आन्तरिक भाव मौजूद है, उसको अच्छी तरह खोलकर कह देने की इच्छा हो रही है—किन्तु शायद यह बात बहुत से लोग ठीक समझ न सकेंगे, इसे एक तरह की कोई अद्भुत बात समझने लगें।

६५

बोवालिया
१८ नवम्बर १८९२

मैं सोच रहा था पता नहीं अब तक रेलगाड़ी कहाँ पहुँच गयी होगी। इसी समय प्रातःकाल नवाड़ी के पास ऊबड़-खाबड़ पथरीली वृक्ष-विहीन पृथ्वी पर सूर्योदय होता है। सम्भवतः नयी धूप पड़ने से अब तक चारों तरफ उज्ज्वल हो उठा है। बीच-बीच में आकाश-पट में नीले पर्वत का आभास दिखाई पड़ रहा है। अनाज के खेत वहाँ बहुत ही कम हैं, दैवयोग से दो-एक जगह वहाँ के जङ्गली किसानों ने भैंसों से खेत जोतना शुरू कर दिया है। दोनों तरफ फटी हुई जमीन दिखाई पड़ रही है, काले-काले पत्थर हैं, सूखे हुए जल स्रोत हैं, उनमें कङ्कड़ बिखरे पड़े हुए हैं, जो रास्ते के चिह्न सरीखे मालूम हो रहे हैं, छोटे-छोटे नरम शाल वृक्ष, और टेलीग्राफ के तारों पर काली पूँछ हिलाते हुए भुजंग पक्षी हैं। मानो एक बहुत बड़ी जंगली प्रकृति पोस मानकर एक ज्योतिर्मय नवीन देवशिशु के उज्ज्वल कोमल हाथों का स्पर्श अनुभव करके स्थिर भाव से लेटी हुई है। यह चित्र मुझे कैसा याद पड़ता है बताऊँ? कालिदास के शकुन्तला काव्य में है, दुष्यन्त का पुत्र शिशु भरत एक सिंह के बच्चे के साथ खेल करता था। वह मानो एक दिन पशु के प्रति अपना स्नेह भाव दिखाता हुआ सिंह के बच्चे के बड़े-बड़े बालों के बीच अपनी सुन्दर कोमल अँगुलियों को चला रहा है, और वह जन्तु स्थिर होकर पड़ा हुआ है, और बीच-बीच में स्नेहपूर्वक अलसित विरक्ति के साथ अपने मानव मित्र की तरफ कनखियों से ताक रहा है। और सूखे हुए स्रोत में कङ्कड़ फैले हुए रास्ते की बात जो मैंने कही है उससे मुझे

क्या याद पड़ता है बताऊँ ? अंग्रेजी कहानियों में हम पढ़ते हैं, सौतेली माँ ने जब अपनी सौत के लड़के लड़की को घर से निकाल बाहर करके छलना द्वारा उन्हें एक अपरिचित जंगल में भेज दिया, तब दोनों भाई बहन वन में चलते-चलते अपनी बुद्धि लगाकर एक-एक कङ्कड़ गिराते हुए अपना रास्ता चिह्नित कर गये थे। छोटे-छोटे स्रोत मानो वैसे ही छोटे-छोटे लड़के-लड़कियाँ हैं, वे एकदम बचपन में इस अपरिचित बृहत् संसार में निकल पड़ते हैं, इसीलिए चलते-चलते अपने छोटे-छोटे रास्ते में कङ्कड़ फैलाते जाते हैं, जब फिर लौटने लगेंगे तो अपने घर का यह रास्ता वापस पा जायेंगे। किन्तु फिर लौटना अब न होगा।



६६

नाटोर

२ दिसम्बर १८९२

कल मैं म....के घर गया था। सन्ध्या को हम सब मिलकर टहलने गये थे। दोनों तरफ मैदान थे। और बीच में रास्ता था। मैदान के बीच का यह रास्ता मुझे बहुत अच्छा लग रहा था। बंगाल का अन्त-हीन दूर तक फैला हुआ मैदान, उसके छोर पर खड़े पेड़-पौधों में डूबने वाला सूर्यास्त—देखने से कैसी विशाल शान्ति और कोमल करुणा उत्पन्न हो रही थी! हमारी इस अपनी पृथ्वी के साथ बहुदूरवर्ती आकाश का यह कैसा स्नेहराग से [illegible] म्लान मिलन है। अनन्त में जो एक बहुत बड़ा विषाद, विषाद है, [illegible] आकाश की परित्यक्ता पृथ्वी पर एक [illegible] प्रका-शित कर देता है, [illegible] छा जाती है। बहुत देर तक [illegible]

विचार उठता है कि यदि यह चराचर-व्याप्त नीरवता अपने को धारण न कर सके, सहसा उसकी अनादि भाषा यदि फटकर प्रकट हो जाय तो उस हालत में कैसा एक गम्भीर शान्त सुन्दर सकरुण-सङ्गीत पृथ्वी से लेकर नक्षत्र-लोक तक बज उठेगा। वास्तव में यही हो रहा है। हम लोग जरा निविष्ट चित्त से स्थिर होकर चेष्टा करें तो हम संसार के समस्त सम्मिलित आलोक और वर्णों के बृहत् 'हार्मनी' को मन ही मन एक बड़े सङ्गीत में परिणत कर सकते हैं। इस जगत्-व्यापी हृदय-प्रवाह की कम्पन-ध्वनि को केवल एक बार आँखें बन्द करके मन के कान से सुनना पड़ता है। किन्तु मैं इस सूर्योदय और सूर्यास्त की बातें कितना लिखूँ। नित्य नये भावों से अनुभव किया जाता है, किन्तु नित्य नये भावों से प्रकाशित करूँ कैसे?

६७

सिलाईदह

६ दिसम्बर १८९२

अपने बोट की खिड़की के पास अकेला बैठा हुआ हूँ। बहुत दिनों के बाद अब मेरे मन को कुछ शान्ति मिली है। बोट स्रोत के अनुकूल चल रहा है, पाल लगा हुआ है, दोपहर की धूप से जाड़े का दिन जरा गरम हो उठा है। पद्मा में नाव नहीं है; बालू की रेती पीले रङ्ग की दीख पड़ रही है, एक तरफ नदी का नीला रङ्ग है, दूसरी तरफ आकाश का नीला रंग है, दोनों के बीच एक रेखा की तरह अङ्कित है। जल उत्तर की हवा लगने से बहुत थोड़ी-थोड़ी चमक के साथ काँप रहा है, लहरें नहीं हैं। मेरे सिर पर कुछ-कुछ हवा लग रही है, बहुत आराम मालूम हो रहा है। बहुत दिनों तक गहरी बीमारी भोगने के बाद शरीर

शिथिल दुर्बल अवस्था में है, ऐसे समय में प्रकृति की यह धीर स्निग्ध शुश्रूषा बहुत मधुर लग रही है। जाड़े से सिकुड़ी हुई इस नदी की तरह मेरा समस्त अस्तित्व मानो मृदु धूप में पड़कर आलस्यपूर्ण भाव से चमक रहा है, और मानो मैं अर्ध अनमना होकर चिट्ठी लिख रहा हूँ। प्रति बार इस पद्मा नदी में आने के पहले मुझे डर लगता है, कि मेरी पद्मा नदी शायद अब पुरानी हो गयी है। किन्तु ज्योंही मैं अपना बोट उसके जल में छोड़ देता हूँ, चारों तरफ जल खौलने लगता है—चारों तरफ एक स्पन्दन-कम्पन होने लगता है, आकाश का दृश्य रहता है, नदी की कल-कल ध्वनि रहती है, एक सुकोमल नील विस्तार रहता है, एक सुनवीन श्यामल रेखा रहती है, वर्ण और नृत्य, संगीत और सौन्दर्य का एक नृत्य उत्सव प्रादुर्भूत हो जाता है, तब फिर नये सिरे से मेरा हृदय मानो अभिभूत हो जाता है। यह पृथ्वी मेरे लिए बहुत दिनों की और अनेक जन्मों के प्रियजनों की तरह सदा नवीन है, हम दोनों में एक खूब गम्भीर और सुदूरव्यापी जान-पहचान है। मैं अच्छी तरह याद कर सकता हूँ कि बहुत युग पहले जब यह तरुणी पृथ्वी समुद्र स्नान करके निकली और सिर ऊपर उठाकर उस समय के नये सूर्य को प्रणाम करने लगी, तब मैं इस पृथ्वी की नयी मिट्टी पर कहीं से एक प्रथम जीवनोच्छ्वास से पेड़ बनकर पल्लवित हो उठा था। उस समय इस पृथ्वी पर जीव-जन्तु कुछ भी नहीं थे, वृहत् समुद्र दिन-रात हिल रहा था, और अबोध माता की तरह अपनी नवजात भूमि को बार-बार अपने उन्मत्त आलिंगन से एकदम ढक रहा था— उस समय मैं इस पृथ्वी में अपने सर्वांगों से प्रथम सूर्यालोक पी गया था, नवशिशु की भाँति एक अन्ध-जीवन के पुलक से नीलाम्बर के नीचे आन्दोलित हो उठा था, अपनी इस मिट्टी की माता को अपनी सारी जड़ों से जकड़-जकड़ कर उसके स्तन का रस पी गया था। एक मूढ़ आनन्द से मेरे फूल खिलते थे और नवीन पत्ते निकलते थे। जब घोर घटा से वर्षा

के बादल उमड़ उठते थे तब उनकी घनश्याम छाया मेरे समस्त पल्लवों को एक परिचित करतल की तरह स्पर्श करती थी। उसके बाद भी नये-नये युगों में इस पृथ्वी की मिट्टी में मैंने जन्म लिया है। जब हम दोनों एकान्त में आमने-सामने मुख करके बैठ जाते हैं तभी हमें मानो अपना वह बहुत दिनों का परिचय थोड़ा-थोड़ा याद पड़ने लगता है। मेरी वसुन्धरा अब 'एक रौद्रपीत हिरण्य अञ्चल' पहन कर उस नदी-तट के शस्य-क्षेत्र में बैठी हुई हैं। मैं उनके पैरों के पास गोद के पास जाकर लोट-पोट हो रहा हूँ—जिस तरह बहुसन्तानवती माँ अर्धमनस्क, परन्तु अटल सहिष्णुता के साथ अपने बच्चों की गतिविधि पर विशेष ध्यान नहीं रखतीं, उसी तरह मेरी पृथ्वी इस दोपहर के समय उस आकाश की तरफ देखती हुई बहुत आदि काल की बातें सोच रही हैं, मेरी तरफ विशेष लक्ष्य नहीं रखती, और मैं बराबर बकता ही जा रहा हूँ। इस तरह समय बीत रहा है। प्रायः शाम हो चुकी है। जाड़े का समय है, देखते-देखते धूप गायब हो जाती है।

●

६८

कटक
फरवरी १८६७

मेरा कथन तो यह है कि जब तक हम लोग कोई काम पूरा न कर सकें तब तक अज्ञातवास करना ही अच्छा है। क्योंकि, जब कि हम लोग सचमुच ही अपमानित होने ही योग्य हैं, तब हम किस बात की दोहाई देकर दूसरों से अपने आत्म सम्मान की रक्षा करेंगे। इस संसार में जब हम लोगों की कोई प्रतिष्ठाभूमि होगी, संसार के कामों में जब हम लोगों का कोई हाथ रहेगा, तब हम उन लोगों के साथ

हँसी भरे चेहरे बातचीत कर सकेंगे। जब तक यह अवस्था नहीं होती तब तक चुप्पी साधकर अपना काम करते रहना ही ठीक है। देश के लोगों की धारणा ठीक विपरीत है। जो काम भीतर ही करने लायक है, जिसे छिपे तौर से करना चाहिए उसे वे तुच्छ समझते हैं, जो बहुत ही अस्थायी आस्फालन है और आडम्बर मात्र है, उसी पर उन लोगों का ज्यादा झुकाव रहता है। हमारा यह देश बहुत ही अभागा है। यहाँ अपने मन में काम करने वाला कोई भी मनुष्य नहीं है, जिसके साथ दो-चार बातें कर प्राण सञ्चय कर सकूँ, ऐसा मनुष्य दस-बीस कोस के भीतर ढूँढ़ने से एक भी नहीं मिलता। कोई सोच विचार नहीं करता, अनुभव नहीं करता। किसी बड़े काम को, यथार्थ जीवन की कोई जानकारी किसी को नहीं है। कोई अच्छा परिपक्व मनुष्य कहीं भी नहीं मिलता। सभी मनुष्य मानो उपच्छाया की तरह घूम फिर रहे हैं। वे खाते-पीते हैं, आफिस जाते हैं, सोते हैं, तम्बाकू पीते हैं, और एक दम नासमझ की तरह बकवाद करते हैं। जब वे कोई विचारणीय पर बोलने लगते हैं तब सेण्टिमेण्टल हो जाते हैं, और जब वे युक्ति का प्रसंग उठाते हैं तब लड़कपन करते हैं। यथार्थ मनुष्य का सम्पर्क प्राप्त करने के लिए मनुष्य के मन में एक भारी तृष्णा रहती है, किन्तु रक्त-मांस का बना सामर्थ्यवान् मनुष्य तो नहीं है—सभी हैं उपच्छाया की तरह, संसार के साथ असम्बद्ध रूप से भाप की तरह उड़ रहे हैं।

६९

बालिया

मंगलवार, फरवरी १८९७

अब तो भ्रमण करने की मेरी इच्छा नहीं है। मेरे मन में प्रवास

इच्छा जाग रही है कि कहीं कोने में एकान्तवास करने के लिए बैठ रहूँ। भारतवर्ष के दो अंश हैं—एक अंश है गृहस्थ, और दूसरा है सन्यासी। कोई घर के कोने से हिलता ही नहीं, कोई एकदम गृह-विहीन है। मुझमें भारतवर्ष के ये दोनों ही भाग विद्यमान हैं। घर का कोना भी मुझे खींचता है, घर का बाहर भी मुझे बुलाता है। खूब भ्रमण करके देखने-घूमने की इच्छा होती है, फिर यह उद्भ्रान्त शान्त मन एक निभृत डेरे के लिए लालायित हो उठता है। यह भाव एक पक्षी की तरह ही है। जैसे रहने के लिए उसे छोटा सा घोंसला चाहिए, वैसे ही उड़ने के लिए बहुत बड़ा आकाश चाहिये। मैं केवल अपने मन को शान्त करने के लिए एक कोने में छिपा रहना पसन्द करता हूँ। मेरा मन भीतर ही भीतर यों ही बराबर काम करना चाहता है, लोगों की भीड़ में उसके कार्यों का उद्योग में पग-पग पर ऐसी बाधा पड़ती रहती है कि वह घबड़ा उठता है, मानो वह पिंजड़े के भीतर से मुझे केवल चोट पहुँचाता रहता है। जरा एकान्त पा लेने से वह अपनी पूरी साध मिटाकर सोच विचार कर सकता है। अपने भावों को ठीक रूप में प्रकट कर सकता है। वह दिनरात अखण्ड अवसर पाना चाहता है—सृष्टिकर्ता जैसे अपनी सृष्टि में अकेले हैं, वह अपने भाव राज्य के बीच वैसे ही अकेले रहना चाहते हैं।

७०

कटक

१० फरवरी १८९३

यहाँ एक विकट अंग्रेज रहता। उसकी नाक बहुत बड़ी है, उसकी आँखों से धूर्तता प्रकट होती है, उसकी ठुड्डी [illegible] की है,

दाढ़ी-मूँछ कमायी हुई है, गला मोटा है, वह एक पक्का जानबुल है। गवर्मेंएट ने हमारे देश की जूरी प्रथा पर हस्तक्षेप करना चाहा था, इस कारण चारों तरफ आपत्ति उठ पड़ी है। वह अंग्रेज बलपूर्वक इस सम्बन्ध में ब....बाबू के साथ तर्क करने लगा। उसने कहा--इस देश का Moral standard low है, यहाँ के लोगों को Life के Sacredness के सम्बन्ध में यथेष्ट विश्वास नहीं है, ये लोग जूरी होने के योग्य नहीं हैं।

किसी बंगाली के निमन्त्रण पर आकर बंगालियों के बीच बैठकर जो लोग ऐसी बात कहने में सङ्कोच नहीं करते, वे हमें न मालूम किस नजर से देखते हैं। भोजन की मेज से उठकर जब मैं ड्राइंग रूम के एक कोने में आकर बैठ गया, तब मेरी दृष्टि में सभी बातें छाया की तरह मालूम होने लगीं। मैं मानों अपनी आँखों के सामने समस्त वृहत् भारतवर्ष को विस्तृत रूप में देख रहा था, अपनी इस गौरवहीन विषादपूर्ण जन्मभूमि के ठीक सिरहाने मानों मैं बैठा हुआ था—मेरे मस्तक हृदय को इतने बड़े विषाद ने आच्छन्न कर रखा था, कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। फिर भी मेरी आँखों के सामने इवनिंग ड्रेस पहने मेम साहब थी, और कानों के पास अंग्रेजी हास्यालाप की गुञ्जनध्वनि हो रही थी—यह सब कितना असंगत था! हमारा चिरकाल का भारतवर्ष मेरे लिए कितना सत्य है—और भोजन की मेज के पास अंग्रेजी मीठी बोली, हँसी, अंग्रेजी शिष्टालाप हम लोगों के लिए कितना निरर्थक है, कितना धोखा है।

●

७१

पुरी

१५ फरवरी १८९३

उनकी कविता समझ नहीं भी आ सकती, पर केवल नागरिकता

मात्र है। कोई-कोई जैसे प्रथम श्रेणी में पास करते हैं, कोई-कोई वैसे ही प्रथम श्रेणी में फेल करते हैं। किन्तु जो लोग पास करते हैं उनकी ही भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ निर्धारित होती हैं, जो लोग फेल हो जाते हैं, वे सभी एक ही दल में पड़ जाते हैं। विश्वविद्यालय की परीक्षा में जैसे अनेक अच्छे लड़के अङ्क में फेल हो जाते हैं, वैसे ही जो लोग काव्य में फेल हैं, उनमें से बहुतेरे ही संगीत में फेल हैं। उनमें भाव है, शब्द हैं, तत्वभरी बातें हैं, आयोजन में कोई त्रुटि नहीं है, केवल वह संगीत नहीं है, जिससे क्षणमात्र में सब कुछ कवित्वमय हो जाता है। उसकी ही आँखों में अँगुली डालकर दिखा देना बहुत कठिन है। लकड़ी ईंधन भी है, फूँक भी है, केवल आग की वह चिनगारी नहीं है, जिससे आग पकड़कर धधकने लगती है। इसमें लकड़ी ईंधन का बोझ विभिन्न स्थानों से परिश्रम से संग्रह करके लाया जाता है, किन्तु आग की वह करुणा अपने हृदय में ही है—जिसके न रहने से पर्वत समान स्तूप व्यर्थ हो जाता है।

●

७२

१५ फरवरी १८९३

किसी-किसी का मन फोटोग्राफ के Wet-plate की तरह है। जो चित्र उठता है उसे उसी क्षण कागज पर न छाप देने से नष्ट हो जाता है। मेरा मन उसी श्रेणी का है। जब भी दृश्य मैं देखता हूँ, तुरन्त ही सोचने लगता हूँ कि इसे चिट्ठी में अच्छी तरह लिख देना चाहिये। कटक से पुरी तक मैं आया, इस भ्रमण का कितना और कैसा वर्णन करना है इसका कोई निश्चय नहीं है। जिस दिन जो कुछ मैं देख लेता था, उसी दिन यदि लिखने का समय मुझे मिला होता तो

चित्र बहुत ही अच्छा उतर सकता था, किन्तु बीच में दो एक दिन गड़बड़ी में ही बीत गये। इस समय के बीच जो कुछ छोटी-मोटी रेखाएँ थीं वे बहुत कुछ अस्पष्ट हो गयी हैं। इसका एक प्रधान कारण यह है कि पुरी पहुँचने के बाद सामने दिनरात समुद्र देख पाता हूँ, उसी ने मेरे समस्त मन को चुरा लिया है, अपने दीर्घ भ्रमण-पथ के पिछले दृश्यों को देखने का अवसर ही नहीं मिलता।

शनिवार को मध्याह्न में हम लोगों ने यात्रा शुरू की। बलु, मैं और बी....बाबू, तीन आदमी भाड़े की फिटन गाड़ी पर सवार हुए। कम्बल-बिछौना गाड़ी में बिछा दिया गया। तीन तकिये पीठ के पास रख लिये गये। कोचबक्स पर एक चपरासी बैठा दिया गया।

काठजूड़ी के बाद हमारा रास्ता मिला। वहाँ गाड़ी से उतर कर लोगों को पालकी पर चढ़ना पड़ा। धूसर बालू, धू-धू कर रही थी, अंग्रेजी में इसे नदी का बिछौना कहते हैं—वास्तव में बिछौना ही है। सबेरे के छोड़े हुए बिछौने की तरह—नदी के स्रोत ने जहाँ जिस तरह करवट बदली थी, जहाँ उसने जिस तरह अपना भार रखा था, उसकी बालू-शय्या पर वहाँ वैसे ही ऊँची-नीची सतह हो गयी है। उस विशृङ्खलित शय्या को किसी ने फिर हाथों से समान करने नहीं बिछाया है। इस विस्तृत बालू के उस पार एक छोर पर स्फटिकवत् स्वच्छ अल्प जल की पतली धारा बह रही है। कालिदास के मेघदूत में विरहिणी के वर्णन में लिखा है कि यक्षपत्नी विरह-शय्या के एक छोर पर चुपचाप पड़ी हुई है, मालूम होता है पूरब तरफ की आखिरी सीमा पर कृष्ण-पक्ष का कृशतम चन्द्रमा उगा हुआ है। वर्षा के अन्त की इस नदी को देखकर विरहिणी की मानो एक और उपमा मिल गयी।

कटक से पुरी तक का रास्ता बहुत अच्छा है। रास्ता ऊँचाई पर है, उसके दोनों तरफ नीची सतह वाले खेत हैं। बड़े बड़े पेड़ हैं, जिनके नीचे छाया फैली हुई है। इनमें से अधिकांश तो आम के वृक्ष हैं।

अपनी इस यात्रा के समय मैंने देखा कि सब आम के पेड़ों पर बौर लगे हुए हैं, गन्ध से रास्ता आकुल हो उठा है। आम पीपल, बर, नारियल और खजूर वृक्षों से घिरे हुए एक-एक गाँव दिखाई पड़ रहे हैं। कहीं स्वल्प जल वाली नदी के किनारे छप्परदार बैलगाड़ी खड़ी है। गोल पत्ते की छाजन के नीचे मिठाई की दूकान लगी है। रास्ते के पास पेड़ के नीचे, श्रेणीबद्ध फूस की मड़ैयों में यात्री खाना-पीना कर रहे हैं। भिखारियों के दल तथा यात्री, और गाड़ी पालकी देखते ही विचित्र स्वर और भाषा में आर्तनाद करने लगे हैं।

पुरी के जितने ही समीप पहुँच रहा हूँ, यात्रियों की संख्या उतनी ही अधिक देख रहा हूँ। कतार की कतार छायी हुई बैलगाड़ियाँ जा रही हैं। रास्ते के किनारे, पेड़ों के नीचे, पोखरों के किनारे लोग सोये हैं, लेटे हैं, रसोई पका रहे हैं, एक जगह जमा होकर बैठे हैं। जहाँ-तहाँ मन्दिर हैं, धर्मशालाएँ हैं, बड़ी-बड़ी पोखरियाँ हैं। रास्ते की बायीं तरफ एक बहुत बड़ी झील की तरह है—उसके उस पार पश्चिम तरफ पेड़ों की चोटियों के ऊपर जगन्नाथ के मन्दिर की चूड़ा दिखाई पड़ रही है। पेड़-पौधों के बीच से बाहर निकलते ही हठात् एक जगह सुविस्तृत बालू का तट और घने नील समुद्र की रेखा दिखाई पड़ी।

७३

बालिया

११ मार्च १८९२

यह बोट छोटा है। मैं समझता हूँ कि मेरी तरह लम्बे मनुष्य की लम्बाई का गर्व खर्व करना ही इसका उद्देश्य है। भूलकर ज़रा सिर ऊपर उठ जाता है त्योंही ऊपर के तख्ते का प्रचण्ड थप्पड़ सिर पर

लग जाता है—एक-एक एकदम सहम जाना पड़ता है; इसी कारण कल से सिर झुकाये समय बिता रहा हूँ। भाग्य में जितना दुःख था, जितनी व्यथा थी उसकी वृद्धि प्रतिबार खड़ा होने में हो जाती है। इस कष्ट के लिए मैं विशेष आपत्ति नहीं करता, किन्तु कल मच्छड़ों के ऊधम से नींद नहीं आयी, यह दशा बहुत ही अन्यायपूर्ण मुझे मालूम होरही है।

इधर फिर जाड़ा बीत गया है, गरमी पड़ने लगी है, धूप गरम हो चली है, और पास की खिड़की से मन्द-मन्द शीतल सजल हवा आकर पीठ पर लग रही है। आज अब जाड़े अथवा सभ्यता की कोई जरूरत नहीं है—ऊनी चादर कुरता खूँटी पर टँगे झूल रहे हैं। घण्टी भी नहीं बजती, सुसज्जित खानसामा आकर सलाम भी नहीं करता—असभ्यता की अपरिष्कृत शिथिलता और आराम उपभोग कर रहा हूँ। चिड़ियाँ बोल रही हैं, और नदी के किनारे बर के पेड़ के बड़े-बड़े पत्ते हवा में झरझर शब्द कर रहे हैं—काँपते हुए जल के ऊपर पड़ने वाली धूप का प्रकाश बोट के अन्दर आकर चमक रहा है—समय एक तरह से ढीले तौर से ही बीत रहा है। कटक में रहते समय लड़कों का स्कूल और कचहरी जाने के लिए बी....बाबू की हड़बड़ी देखकर समय की बहुमूल्यता और सभ्य मानव-समाज की व्यस्तता का अच्छा अनुभव प्राप्त होता था। यहाँ समय की छोटी निर्दिष्ट सीमा नहीं है—केवल दिन और रात ये दो बड़े-बड़े विभाग हैं।

●

७४

तीरन
मार्च १८९३

यह बादल-वर्षा बड़े मकान में बहुत अच्छी लगती है किन्तु छोटे बोट के अन्दर दो शय्याबद्ध प्राणियों के लिए यह अच्छी नहीं है। पहली

बात यह है कि उठते-बैठते माथे पर टक्कर लगती है, इसके अलावे यदि माथे पर जल भी गिरता रहे तो उस हालत में वेदना का कुछ शमन हो भी सकता है, किन्तु मेरी 'दुर्दशा की प्याली, एक दम भर जाती है। मैंने सोचा था कि वर्षा बादल का समय बीत गया, अब स्नान करके पृथ्वी सुन्दरी कुछ दिन पीठ पर धूप सेवन करती हुई अपने भींगे बिखरे बालों को सुखावेंगी, अपनी भींगी हरी साड़ी धूप में पेड़ की डाली पर टाँग देंगी, मैदान में पसार देंगी—उनका बसन्ती आँचल सूख कर फुरफुरा हो जाने से हवा में उड़ता रहेगा। किन्तु अभी तक ऐसे लक्षण नहीं हैं—बादल के बाद बादल छा रहे हैं, इनका कोई विराम नहीं है। मैं तो ऐसी हालत देखकर फागुन के अन्त में कटक के एक व्यक्ति से एक मेघदूत उधार माँगकर ले आया हूँ। पाण्डुआ की हमारी इमारत के सामने वाले खुले हुए अनाज के खेतों पर, जिस दिन आकाश भींगकर कोमल और सुनील वर्ण के हो जायँगे, उस दिन बरामदे में बैठकर रट सकूँगा। दुर्भाग्यवश मैं कुछ भी कण्ठस्थ नहीं कर सकता—ठीक उपयुक्त समय पर कण्ठस्थ कविता की आवृत्ति करना एक परम सुख है, मेरे भाग्य में यह नहीं लिखा है। जब जरूरत पड़ती है तब पुस्तक ढूँढ़कर पढ़ लेने से आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। मान लो, मन में व्यथा पहुँचने से रोने की बहुत इच्छा हुई है, ऐसे समय में दूकान में जाकर चाकनेट के घर से, शीशी में आँख का जल सँभाला नहीं तो कैसी कठिनाई होगी? इसीलिए जब मैं मुफस्सिल में जाता हूँ, तब अपने साथ बहुत-सी पुस्तकें ले जाने की जरूरत पड़ती है। प्रतिदिन सब गभी पुस्तकें को पढ़ता हूँ ऐसी बात नहीं है, किन्तु किस समय किस पुस्तक की जरूरत पड़ेगी पहले से जान लेने का उपाय नहीं है, पूरी सामग्री आसपास रखनी पड़ती है। मनुष्य के मन का यदि निर्दिष्ट ऋतुभेद रहता तो बहुत सुविधा होती। जिस तरह जाड़े के कपड़े ले जाता हूँ, और गर्मी के दिनों में बुलाई ले जाने की कोई

जरूरत नहीं पड़ती, उसी तरह यदि मैं जानता कि मन में किस समय जाड़ा आ जायगा, कब वसन्त आवेगा, तो पहले से ही उसके अनुसार गद्य अथवा पद्य की पुस्तकें जुटा ली जा सकतीं। किन्तु मन की छः ऋतुएँ नहीं होतीं, एकदम बावन हैं—एक पाकेट ताश की तरह—कब कौन हाथ में आ पड़ेगी, इसका कोई ठिकाना नहीं है—हृदय में बैठकर कैसा मनमौजी खेलवाड़ यह ताश करता है, उसका परिचय मैं यह मन-मौजी खेल-खेलकर नहीं जानता। इसीलिए मनुष्य के आयोजनों का अन्त नहीं है—उसको कितने प्रकार की कितनी चीजें हाथ में रखनी पड़ती हैं, इसका ठिकाना नहीं है। इसीलिए मेरे पास "नेपालीज बुद्धिष्टिक लिटरेचर" से लेकर शेक्सपीयर तक कितने प्रकार की पुस्तकें हैं, इसका ठिकाना नहीं है। इनमें से अधिकांश पुस्तकें ही मैं न छूऊँगा, किन्तु कब किस पुस्तक की जरूरत पड़ेगी, बताया नहीं जा सकता। हर बार बराबर मैं वैष्णव कवियों की पुस्तकें और संस्कृत पुस्तकें अपने साथ लाता था। इस बार नहीं लाया हूँ, इसीलिए इन्हीं दोनों तरह की पुस्तकों की जरूरत मुझे अधिक मालूम हो रही है। जिस समय पुरी खण्डगिरि आदि स्थानों का भ्रमण कर रहा था, उस समय यदि मेघदूत मेरे हाथ में रहता तो मैं बहुत खुशी होता। किन्तु मेघदूत नहीं था। उसके बदले में Caird's Philosophical Essays था।

७५

कटक

मार्च १८९२

उसके बाद मैंने साहब का गाना सुना, साहब को गाना सुनाया, ताली बजायी और तालियाँ सुनीं। इस तरह को जो मजलिस मिलती है

यह क्या सचमुच हृदय में प्रवेश करती है। वह क्या कुछ अंशों में कौतूहल मिटाना नहीं है ? क्या सचमुच ही मुझे जो बात अच्छी लगती है उन्हें भी वही अच्छी लगती है ? और उन्हें जो चीज अच्छी नहीं लगती वही वास्तव में अच्छी नहीं है ? यदि ऐसी बात न हो तो इस करतल-ध्वनि को यदि हमलोग अतिरिक्त मूल्य देना शुरू करेंगे तो उस हालत में हमें अपने देश की बहुत सी अच्छी बातों को छोड़ देना पड़ेगा और उनके देश की बहुत सी बुरी बातों को अपनाना पड़ेगा। तो उस हालत में पैरों का मोजा खोलकर बाहर जाने में शायद हमें लज्जा मालूम होगी, किन्तु उनके नाच का पहनावा पहनने में लज्जा न मालूम होगी। अपने देश के शिष्टाचार का पूर्णतः लंघन करने में किसी तरह भी संकोच न होगा और उनके देश का कोई भी प्रचलित शिष्टाचार प्रसन्नता के साथ ग्रहण कर सकेंगे। अपने देश का अचकन पहनाना इसलिए हम छोड़ देंगे कि वह देखने में मनके अनुकूल सुन्दर नहीं है, किन्तु उनके देश की टोपी देखने में भद्दी होने पर भी हम उसे शिरोधार्य करेंगे। हम जानकारी या गैर-जानकारी में उसी करतल-ध्वनि के निर्देशानुसार अपने जीवन को गठित करते हैं और उसे अत्यन्त क्षुद्र बना डालते हैं। मैं अपने आपको सम्बोधित करके कहता हूँ—"हे मिट्टी के पात्र, उस काँसे के बरतन से दूर ही रहो, वह यदि क्रोध करके तुमको आघात करेगा, तो उससे भी तुम चूर्ण हो जाओगे और वह यदि प्यार करके तुम्हारी पीठ पर थप्पड़ जमा दे तो उससे भी तुम फूटकर अतल जल में डूब जाओगे। इस कारण बूढ़े ईसप का उपदेश सुनो, दूर रहना ही सार बात है। वे रहें बड़े घर में, और मेरे साधारण घर में साधारण पात्र का शायद छोट-मोटा काम है—किन्तु वह यदि अपने को फोड़ डाले तो उसके लिए बड़ा घर भी नहीं, है छोटा घर भी नहीं है, तो वह मिट्टी के समान हो जायगा। तब शायद हमारे बड़े घर का व्यक्ति उस तुच्छ वस्तु को अपने ड्राइङ्ग रूम के

कैबिनेट के एक तरफ सजाकर रख सकेंगे—किन्तु यह काम क्युरियासिटी रूप में ही होगा—इससे अधिक गौरव तो छोटे गाँव की कुलवधू के कमरे में विराग करने से भी होगा।"



७६

कटक
मार्च १८९३

कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो कोई भी काम न करने पर भी आशा से अधिक फल प्रदान करते हैं। सु....उसी श्रेणी का मनुष्य है, वह बड़ी परीक्षाएँ पास करेगा, पुरस्कार पावेगा, लिखेगा-पढ़ेगा, इसकी मानो कोई विशेष आवश्यकता नहीं है—मालूम होता है कि, कुछ भी न करने से भी उसमें एक चरितार्थता मौजूद है। अधिकांश मनुष्य निकम्मे बने रहने से शोभा नहीं पाते, उससे उनका निकम्मापन प्रकट हो जाता है किन्तु सु....ऐसा है कि, कोई भी काम न करनेपर भी कोई उसे अयोग्य होने के कारण घृणा न कर सकेगा। काम-काज की व्यस्तता मनुष्य के लिए एक आच्छादन की तरह है, सभी कामनसीब लोगों के लिए उसकी विशेष आवश्यकता है—उससे उनका दैन्य उनकी कमजोरियों में छिप जाता है—किन्तु जो लोग स्वाभावतः ही पूर्ण प्रकृति के मनुष्य हैं, वे सभी कर्मों के आवरणों से मुक्त रहने पर भी, अपनी शोभा और सम्भ्रम की रक्षा कर सकते हैं। सुन्दर....की तरह सोलहों आने शिथिलता किसी दूसरे लड़के में दिखाई पड़ती तो वह अवश्य ही असह्य मालूम होती, किन्तु सु....के आलस्य में एक माधुर्य है। मैं उसको प्यार करता हूँ, इसलिए मैं यह नहीं कहता—इसका प्रधान कारण यह है कि चुपचाप बैठे रहने से भी उसका मन बहुत परिपूर्ण

हो उठा है और अपने आत्मीय स्वजनों के प्रति वह जरा भी उदासीनता नहीं रखता। जिस आलस्य में मूढ़ता और दूसरों के प्रति अवहेला लगातार बढ़ती जाती है वही वास्तविक घृणायोग्य है। सु....के आलस्य में सुबुद्धि है, उससे वह मानो मधुर रस से सिक्त रहता है! जिस वृक्ष पर सुगन्धित फूल खिलते हैं, उस वृक्ष पर खाने योग्य फल न लगने से भी काम चल जाता है। सु....को जो सब लोग प्यार करते हैं वह उसके किसी काम, उसके सामर्थ्य या उसके प्रयत्नों के कारण नहीं। वह प्यार उसके स्वभाव के अन्तर्गत एक सामंजस्य और सौन्दर्य के कारण है।

७७

कलकत्ता

१६ अप्रैल १८०३

भ्रमण की भागदौड़ी में होटल में बैठकर इसे पढ़ने से कैसा मालूम होगा, इसमें सन्देह है। कहाँ है वह पुरी का समुद्र और कहाँ है वह आगरा का होटल। इस पृथ्वी के साथ, समुद्र के साथ हम लोगों की एक बहुत दिनों की जो आत्मीयता है, वह क्या निर्जनता में प्रकृति के साथ आमने-सामने होकर, हृदय में अनुभव न करने से, किसी तरह भी समझ में आ सकती है। पृथ्वी में जब मिट्टी नहीं थी, समुद्र एक दम अकेला था, तब उस जनशून्य जलराशि में मेरा आज का यह चंचल हृदय अव्यक्त रूप से तरंगित होता रहता था, समुद्र की तरफ देखकर उसकी एक तानतासी कलध्वनि सुनने से यह बात मानो समझ में आती है। मेरा अन्तर-समुद्र भी आज अकेला बैठा-बैठा उसी तरह तरंगित हो रहा है, उसके अन्दर ही अन्दर कोई एक गीत मानो

उत्पन्न हो रही है। कितनी अनिर्दिष्ट आशाएँ, अकारण आशंकायें, कितने प्रकार के प्रलय, कितने स्वर्ग-नरक, कितने विश्वास सन्देह, कितने लोकातीत प्रत्यक्षातीत प्रमाणातीत अनुभव और अनुमान, सौन्दर्य का अपार रहस्य, प्रेम की अतल अतृप्ति, मानव मन की उलझी हुई हजार किस्म की अपूर्व अनन्त बातें। वृहत् समुद्र के किनारे अथवा खुले आकाश के नीचे अकेले न बैठने से अपने अन्तर का वह गुप्त रहस्य ठीक अनुभव नहीं किया जा सकता। किन्तु इसके सम्बन्ध में सर पटक कर मरते रहने की जरूरत मुझे नहीं है। मेरे मन में जो विचार जाग उठे हैं, उन्हें कहकर ही मैं छुट्टी लेता हूँ। उसके बाद समुद्र समान भाव से तरङ्गित होता रहे और मनुष्य हँसी खुशी से घूमता-फिरता रहे।

●

७८

कलकत्ता,
३० अप्रैल १८९२

कल रात के दस बजे तक मैं छत पर पड़ा रहा। चतुर्दशी का चन्द्रमा उगा हुआ था—सुन्दर हवा चल रही थी—छत पर और कोई नहीं था। मैं अकेला पड़ा-पड़ा अपने समस्त जीवन की बातें सोच रहा था। इस कारण तिमंजिले की छत, ऐसी ज्योत्स्ना, ऐसी दक्षिणी हवा, जीवन की स्मृति में कितने प्रकार से मिली हुई है। दक्षिण तरफ के बगीचे के वृक्ष की पत्तियाँ झरझर शब्द कर रही थीं, मैं आँखें आधी बन्द करके अपने बचपन के मन के भावों को याद करने की चेष्टा कर रहा था। पुरानी स्मृतियाँ मदिरा की तरह हैं, जितने अधिक दिन वे मन में संचित रहती हैं, उसका स्वाद, उसका रंग और नशा मानो उतना ही मधुर हो जाता है। हमारी इन स्मृतियों की बोतलें वृक्ष-

वस्था के लिए ठंढा करके रखी जा रही है—तब शायद छत के ऊपर चाँदनी रात में एक-एक बूँद चखना बहुत अच्छा मालूम होगा। कच्ची उम्र में मनुष्य केवल कल्पना और स्मृति से सन्तुष्ट नहीं रहता, क्योंकि उस अवस्था में उसके रक्त का जोर, उसके शरीर का तेज उसको किसी काम में प्रवृत्त करना चाहता है, किन्तु वृद्धावस्था में जब हम स्वभावतः काम करने में असमर्थ हो जाते हैं, शरीर के यौवन का तेज हमें किसी तरह उत्तेजित नहीं करता, तब स्मृति हमारे लिए यथेष्ट प्रतीत होती है—तब ज्योत्स्नाभरी रात्रि के स्थिर जलाशय की भाँति हमारे चञ्चल मन में पूर्व स्मृति की छाया ऐसी साफ स्पष्ट भाव से पड़ती है, कि वर्तमान अवस्था के साथ उसका फर्क समझना कठिन हो जाता है।

●

७९

सिलाईदह
मई १८९३

इस समय मैं बोट में हूँ। मानो यही मेरा अपना मकान है। यहाँ मैं ही एकमात्र मालिक हूँ। यहाँ मेरे ऊपर, मेरे समय के ऊपर और किसी का अधिकार नहीं है। यह बोट मेरे पुराने ड्रेसिंग गाउन की तरह है—इसके भीतर प्रवेश करने से एक खूब ढीले अवसर में प्रवेश किया जाता है। जैसी इच्छा होती है उसके अनुसार कल्पना करता हूँ, अपनी रुचि के अनुसार पढ़ता हूँ, रुचि के अनुसार लिखता हूँ, और अपनी अभिरुचि के अनुसार नदी की तरफ ताकता हुआ टेबिल पर पैर रखकर अपने मन से इस आकाशपूर्ण, आलोकपूर्ण, आलस्यपूर्ण दिन में निमग्न रहता हूँ।

अभी प्रारम्भ के कई दिन अपने इस पूर्व-परिचित के साथ पुनर्मिलन के नये संकोच-हिचक के भाव मिटाने में ही बीत जायेंगे। उसके बाद नियमित लिखते-पढ़ते नदी के किनारे टहलते-टहलाते हम दोनों की पुरानी मित्रता फिर सहजावस्था को पहुँच जायगी। वास्तव में मैं पद्मा नदी को बहुत प्यार करता हूँ। इन्द्र के लिए ऐरावत जैसा है, मेरे लिए पद्मा वैसी ही है। वह मेरा यथार्थ वाहन है—बहुत अधिक पोस मानने वाली यह नहीं है, कुछ जङ्गली स्वभाव की है। किन्तु इसकी पीठ और इसके कंधे पर हाथ सहला कर आदर करने की मेरी इच्छा हो रही है। इस समय पद्मा का जल बहुत घट गया है—यह बहुत ही स्वच्छ पतली हो गयी है—एक पीले रङ्ग की दुबली पतली स्त्री की तरह, नरम साड़ी शरीर के साथ खूब सटी हुई है। यह सुन्दर भंगिमा से चली जा रही है और शरीर की गति के साथ इसकी साड़ी टेढ़ी होती जा रही है। मैं जब सिलाईदह में बोट में रहता हूँ, तब पद्मा मेरे लिये एक वास्तविक मानवी सरीखी हो जाती है, इस कारण उसके बारे में यदि अतिरिक्त मात्रा में कुछ लिखूँ तो उन बातों को चिट्ठी में लिखने के लिये अनुपयुक्त समझना उचित न होगा। वे बातें यहाँ की व्यक्तिगत खबर में गिनी जायँगी। एक ही दिन में कलकत्ता के और यहाँ के भावों में कितना फर्क पड़ जाता है। कल सन्ध्या को यहाँ मैं छत पर बैठा हुआ था, वह एक तरह की हालत थी, और और आज यहाँ दोपहर को बोट में बैठा हुआ हूँ, यह एक दूसरी ही हालत है। कलकत्ते के लिये, जो सेण्टिमेण्टल है, पोएटिकल है, यहाँ के लिये यह कितना ही सत्य है। गैस के प्रकाश से जगमगाते हुए पब्लिक नाट्य स्टेज पर अब नाचने की इच्छा नहीं होती—यहाँ के इस स्वच्छ दिनालोक में और एकान्त अवसर में अपना अपना काम करते रहने की इच्छा होती है। [illegible] पीछे लिखा मन की अशान्ति दूर नहीं होती। [illegible]

साधारण का उपकार करना और हँसी-खुशी मनाकर मरना, बहुत कुछ अनावश्यक मालूम होता है—उसके अन्दर बहुत सी ऐसी चीजें रहती हैं जो असल सोना नहीं है, जो खाद है—और इस फैले हुए आकाश और सुविस्तृत शान्ति में यदि किसी की तरफ दृष्टिपात न करके अपने गम्भीर आनन्द में हम अपना काम करते रहेंगे तो हम यथार्थ काम कर सकेंगे।

८०

सिलाईदह
८ मई १८९३

कविता बहुत दिनों से मेरी प्रेयसी बनी हुई है—शायद मेरी उम्र इसी की तरह थी, तभी से वह मेरे साथ वाकदत्ता हो गयी थी। तभी से हमारे पोखरे के पास वाले वटवृक्ष के नीचे का स्थान, मकान के भीतर का बगीचा, मकान के अन्दर निचली मञ्जिल के निर्जन कमरे, समस्त बाहरी जगत्, और नौकरानियाँ और पद्यावलियाँ—इन सभी ने मेरे मन में एक माया-जगत् तैयार कर दिया था। उस समय का वह धुँधला अपूर्व मनोभाव व्यक्त करना बहुत कठिन है, किन्तु मैं केवल यही कह सकता हूँ कि कल्पना के साथ तभी से माला-परिवर्तन हो गया था। किन्तु वे कोई भली महिला नहीं हैं, यह स्वीकार करना पड़ता है। उनमें और जो कुछ भी गुण हों, परन्तु वे सौभाग्य लेकर नहीं आतीं। मैं यह नहीं कह सकता कि वे सुख नहीं देतीं, किन्तु आराम के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। जिसको वे वरण करती उसे बहुत आनन्द देती किन्तु कभी-कभी कठोर आलिंगन से निचोड़ कर रक्त निकाल लेती हैं। जिस व्यक्ति को वे चुन लेती हैं, उस अभागे

के लिये संसार के बीच नींव डालकर गृहस्थ बन, स्थिर भाव से आराम करना बिलकुल ही असम्भव है। किन्तु मेरा असल जीवन उनके ही पास बन्धक पड़ा हुआ है। चाहे साधना में प्रबन्ध लिखूँ, या जमींदारी के कामकाज देखूँ, ज्योंही कविता लिखना शुरू करता हूँ त्योंही मैं अपने चिरकाल के यथार्थ स्थान 'अपने में' प्रवेश कर जाता हूँ—मैं अच्छी तरह समझ जाता हूँ कि यही मेरा स्थान है। जीवन में जानकारी में और गैर जानकारी में बहुत मिथ्याचरण किये जाते हैं, किन्तु कविता में कभी मैं झूठी बातें नहीं कहता—यही मेरे जीवन की सभी गम्भीर सच्चाइयों का एकमात्र आश्रय-स्थान है।



८१

सिलाईदाह
१० मई १८९३

देख रहा हूँ कि बादलों के बड़े-बड़े टुकड़े चारो तरफ से आकर जमा हो गये हैं—मालूम होता है कि मोटे-मोटे ब्लाटिङ्ग पैड लगाकर किसी ने चारो तरफ के दृश्य-पट से कच्चे सुनहले रङ्ग की धूप को एकदम सुखा डाला है। यदि फिर वर्षा आरम्भ हो जाय तो इन्द्रदेव को धिक्कार ही दिया जायगा। बादलों का चेहरा दुबला-खोखला नहीं है। बाबू लोगों की तरह सुन्दर सजल, श्यामल, आनन्ददायक भाव है। किसी भी क्षण वर्षा आरम्भ होने में देर नहीं है—जो हवा आ रही है नम ठण्डी, भीगी रुई-सी मालूम हो रही है। यहाँ बादल-धूप का यह आना-जाना कितना महत्त्व रखता है, कितने लोग आकाश की तरफ चकित होकर ताक रहे हैं, इसकी ठीक कल्पना शिमला की उस गगन-भेदी चोटी पर बैठकर करना कठिन है। अपने इस दरिद्र कृषक

प्रजाजनों को देखने से मुझे बड़ी दया होती है। ये लोग मानो विधाता के बच्चों की तरह निरुपाय हैं। वे यदि इनके मुँह में अपने हाथ से उठा कर कुछ न दें तो इनका निस्तार नहीं है। पृथ्वी के स्तन जब सूख जाते हैं, तब ये लोग केवल रोना जानते हैं—किसी तरह जरा भी भूख मिट जाने के साथ ही ये सब कुछ भूल जाते हैं। सोशलिस्ट लोग सारी पृथ्वी में धन का जो बँटवारा करना चाहते हैं वह सम्भव है या असम्भव हो यह मैं नहीं जानता—यदि यह काम बिलकुल ही असम्भव हो तो उस हालत में विधि का विधान बड़ा निष्ठुर है। मनुष्य बहुत ही अभागा है, क्योंकि पृथ्वी में यदि दुःख रहता है तो रहे, किन्तु उसमें जरा ऐसा छेद, जरा ऐसी सम्भावना रख देनी उचित है जिसके जरिये उस दुःख को दूर करने के लिए मनुष्य का उन्नत अंश लगातार चेष्टा कर सके, एक आशा पोषण कर सके। जो लोग कहते हैं, किसी समय भी पृथ्वी के सभी मनुष्यों को जीवन धारणोपयोगी कुछ मूल आवश्यक वस्तुएँ बाँट देना नितान्त असम्भव, अमूलक कल्पना मात्र है, किसी दिन भी सभी मनुष्यों को खाने-पहनने को सामग्री न मिलेगी, संसार के अधिकांश मनुष्य चिरकाल तक आधा पेट भोजन करके समय बितायेंगे, इसके लिए कोई रास्ता नहीं है, वे लोग बहुत ही कठिन बात कहते हैं। किन्तु [illegible] कैसी कठिन है। विधाता ने हमें ऐसा एक [illegible] दिया है कि हम पृथ्वी के एक भाग को ढँकने लगते हैं तो दूसरा भाग खाली पड़ जाता है—दरिद्रता दूर करने में धन चला जाता है, और धन जाने से समाज के कितने श्री, सौन्दर्य और उन्नति के साधन चले जाते हैं, उसकी सीमा नहीं है। किन्तु फिर रह-रहकर धूप निकल रही है और पश्चिम तरफ बादल भी अँधेरा जमा रहे हैं।

सिलाईदह
११ मई १८९२

कल लगभग शाम को बादलों की खूब काली घटाएँ एकत्रित होकर बरस पड़ीं, उसके बाद आकाश साफ हो गया। आज कितने ही दल-भ्रष्ट विच्छिन्न बादल सूर्य की किरणों से साफ होकर खूब निरीह, निरपराध भाव से आकाश के किनारे-किनारे घूम-फिर रहे हैं। देखने से मालूम होता है कि बरसने की इच्छा इनकी जरा भी नहीं है, किन्तु चाणक्य ने अपने सुविख्यात श्लोक में जिन लोगों पर विश्वास करने का निषेध किया, उनमें देवता लोगों को भी रख देना उचित था। आज का प्रभातकाल बहुत सुन्दर हो उठा है—आकाश साफ नीला है, नदी के जल में रेखा मात्र नहीं है और नदी के किनारे ढालू जमीन पर जो घास उगी हुई हैं, उनके ऊपर प्रथम दिन की वर्षा के कण लगे रहने से वे झक झक चमक रही हैं। इन सब के मिल जाने से, सूर्य के प्रकाश से आज की प्रकृति एक श्वेत [illegible] महेश्वरी की तरह दिखाई पड़ रही है। यह प्रभात का समय बहुत ही निस्तब्ध हो गया है। मैं नहीं जानता कि किस कारण नदी में एक भी नाव नहीं है, बोट के निकटवर्ती घाट पर जल लेने, स्नान करने के लिये कोई भी नहीं आया है। [illegible] है। थोड़ी देर तक कान लगा रखने से [illegible] सुनाई पड़ती है, धूप का यह प्रकाश और आकाश [illegible] प्रवेश करके मस्तिष्क को एक दम भर देते हैं और यहाँ [illegible] क्रियाओं को [illegible] सुनहले रंग से रंग डालते हैं। बोट के [illegible] है। इस तरह [illegible] शरीर को छोड़कर, सब काम छोड़कर, चुपचाप पड़े रहने की इच्छा होती है।

मानो मैं इस आकाश का हूँ, इस नदी का हूँ, इस पुरानी साँवली पृथ्वी का हूँ। बोट में इसी दशा में मेरे दिन बीतते हैं। पड़ा पड़ा परिचित प्रकृति के कितने प्रकार के भावों का परिवर्तन देखता हूँ, इसका ठिकाना नहीं है। यहाँ मुझे एक और सुख है। किसी किसी समय कोई कोई सरल वृद्ध प्रजाजन आ जाते हैं, उनकी भक्ति बहुत ही अकृत्रिम रहती है। वास्तव में अपनी सुन्दर सरलता और आन्तरिक भक्ति से यह मनुष्य मुझसे कितना बड़ा है। मैं ही मानो इस व्यक्ति के लिए अयोग्य हूँ। किन्तु यह भक्ति तो बहुत साधारण चीज नहीं है। छोटे बच्चों पर जैसा प्रेम रहता है, इन बूढ़े बच्चों पर बहुत अंशों में वैसा ही रहता है—किन्तु कुछ फर्क है। ये बूढ़े उनसे भी अधिक छोटे हैं। क्योंकि वे बड़े होंगे, ये लोग अब किसी दिन भी बड़े न होंगे—इनकी इस जीर्ण-शीर्ण कुञ्चित शिथिल वृद्ध देह में एक तरह का शुभ्र सरल, कोमल मन मौजूद है। बच्चों के मन में केवल सरलता मात्र है, किन्तु स्थिर विश्वासपूर्ण [illegible] नहीं। मनुष्य के साथ मनुष्य का यदि सम्बन्ध [illegible] हृदय की यह मंगलेच्छा शायद उनमें [illegible]। किन्तु सब प्रजाजन इस स्वभाव के नहीं होते—ऐसी आशा भी नहीं की जा सकती। जो सबसे अच्छी चीज है, वह सबसे दुर्लभ भी है।

८३

सिलाईदह

१३ मई १८९३

आज मुझे एक टेलीग्राम मिला है, जिसमें लिखा है कि Missing Gown Lying Post Office इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक

अर्थ यह है कि खोये हुए गातवस्त्र डाकघर में पड़े हैं। दूसरा अर्थ यह है कि—गाउन मिसिंग है और पोस्ट आफिस लाइंग है। दोनों ही अर्थ सम्भव हो सकते हैं—किन्तु जब तक प्रतिवाद नहीं सुनाई पड़ता तब तक प्रथम अर्थ ही ग्रहण किया गया। किन्तु मजा यह है—जो चिट्ठी आयी है उसमें साफ तौर से कहा गया है कि एक गाउन नहीं मिला है, इसमें अब कोई सन्देह नहीं है।

बेचारी चिट्ठी! उसके जिम्मे जो कुछ बातें लिफाफे में भर दी गई हैं, उन्हीं बातों को कन्धे पर लेकर लम्बे रास्ते में डगमगाती हुई चली आती है—इसके बीच संसार में कितनी कथा कथा घटनाएँ हो जाती हैं, उनकी जानकारी उसे नहीं रहती, उसका छोटाभाई एक कुदान में उसे लाँघकर उसकी सभी बातों का एक ही संक्षिप्त रूढ़ प्रतिवाद लेकर आ पहुँचा है, उसका भी जवाब वह नहीं दे सकती। वह भले आदमी की तरह कहती है—"मैं कुछ नहीं जानती भाई, मुझसे उसने जो कुछ बताया है उसे ही ढोकर मैं ले आयी हूँ।" वास्तव में वह ले आयी है। एक भी बात उसकी इधर-उधर गिरी नहीं है। सारे रास्ते को रौंदती हुई लम्बे रास्ते के कितने ही चिन्ह, बगल और पीठ पर कितनी ही छाप लिये बेचारी ठीक समय पर आ पहुँची है। हो सकता है कि उसकी खबर गलत हो, मैं उसको प्यार करता हूँ! और तार पर चढ़ कर पलभर में टेलीग्राफ आ गया—राह चलने के परिश्रम का कोई चिह्न नहीं है—लिफाफा बिलकुल लाल चमक रहा है—झटपट दो बातें बोल गये, उनमें से आठ दस बातें निकल पड़ीं—उसमें व्याकरण नहीं है, भद्रता नहीं है, एक सम्बोधन भी नहीं है, विदाई की कोई शिष्टता भी नहीं है, [illegible] भाव नहीं है, केवल [illegible] कर चले जाने में ही वह अपना बचाव समझता है।

८४

शिलाईदह
१६ मई १८९४

मैं सन्ध्या को साढ़े छ बज जाने के बाद स्नान करके, ताजगी और स्वच्छता लिये नदी के किनारे रेती पर एकाध घण्टा भ्रमण करता हूँ, उसके बाद अपने नये बोट को नदी में ले जाकर उसके ऊपर बिछौना बिछा देता हूँ और उसी ठण्डी हवा में सन्ध्या की अँधियारी में चित्त होकर पड़ा रहता हूँ। श....मेरे पास बैठकर तरह-तरह की बातें बकता रहता है। आँखों के ऊपर आकाश तारों से एकदम खचित हो जाता है। मैं प्रायः प्रतिदिन ही सोचता हूँ, इस तारामय आकाश के नीचे क्या फिर कभी मैं जन्म ग्रहण करूँगा! फिर क्या कभी ऐसी प्रशान्त सन्ध्या-समय में, इस निस्तब्ध गोराई नदी के ऊपर बङ्ग देश के इस सुन्दर कोने में ऐसे निश्चिन्त, मुग्ध मन से बोट के ऊपर बिछौना बिछा कर पड़ा रह सकूँगा! शायद और किसी जन्म में ऐसी सन्ध्या फिर कभी मुझे न मिलेगी। तब कहाँ दृश्य परिवर्तन होगा—और मैं कैसा मन लेकर जन्म ग्रहण करूँगा! ऐसी अनेक सन्ध्याएँ शायद मैं पा भी जाऊँ, किन्तु उनमें से कोई सन्ध्या ऐसे निस्तब्ध भाव से अपनी समस्त केशराशि बिखेर कर, मेरी छाती के ऊपर तब इतने सुगम्भीर प्रेम के साथ पड़ी रहेगी! मैं क्या ठीक ऐसा ही मनुष्य तब रहूँगा! आश्चर्य की बात यह है कि, सबसे अधिक भय मुझे इस बात का है कि मैं कहीं यूरोप में जाकर जन्म ग्रहण न कर लूँ। क्योंकि वहाँ समस्त चित्त को इस तरह ऊपर की तरफ उद्घाटित रख कर पड़े रहने का उपाय नहीं है और पड़े रहने को भी सभी भारी अपराध समझते हैं। हो सकता है कि किसी कारखाने में, या किसी बैंक में, या पार्लियामेन्ट

में समूचा शरीर मन-प्राण लगाकर खटना पड़ेगा। जिस तरह व्यापार वाणिज्य, गाड़ी-घोड़ा चलाने के लिए शहर के रास्ते को ईंट आदि से पक्का बँधवाना कठिन है, उसी तरह मन के स्वभाव को, बिज़िनेस चलाने के लिए उपयुक्त पक्का बना देना भी कठिन है—जिसमें एक कोमल तृण, एक अनावश्यक लता उगने की जरा भी जगह न रहे, ठोक ठोककर, चुन-छाँटकर आईन से आबद्ध सुदृढ़ मात्र बना रहे। शायद उसकी अपेक्षा मेरा यह कल्पनाप्रिय निकम्मा, अपने आप में ही डूबा हुआ, विस्तृत आकाशपूर्ण मनोभाव, जरा भी अगौरव का का विषय नहीं मालूम होता। बोट में पड़ा पड़ा संसार के उस काम करने वाले मनुष्य के सामने मैं अपने को जरा भी छोटा नहीं समझता, बल्कि, मैं भी यदि कमर कसकर काम में लग जाता तो उस हालत में शायद उन बड़े बड़े 'ओक' वृक्ष सदृश, लम्बे जवान आदमियों के सामने अपने को बिलकुल ही साधारण समझने लगता।



८५

कलकत्ता
२१ जून १८९२

मन नामक एक चञ्चल पदार्थ के किसी तरह हमारे शरीर में प्रवेश हो जाने के कारण, जो एक तरह का उत्पात हो रहा है, इसी सम्बन्ध में इसबार की डायरी में आलोचना की गयी है। असल में हम लोग खायेंगे, पहनेंगे, जीवित रहेंगे ऐसी ही बात थी। हम लोग यह जो विश्व के आदि कारण का अनुसन्धान करते हैं, इच्छापूर्वक एक खूब कड़े भाव को व्यक्त करने का प्रयास करते हैं, फिर उसमें प्रमाण पर मेरा रखने की आवश्यकता समझते हैं, आपाद-मस्तक दुःख में निमग्न रहने पर भी महीने महीने तक का पेट खर्च करके

'साधना' (पत्रिका) निकालते हैं, इसकी क्या आवश्यकता थी। उधर देखिये, नारायण सिंह घी और आटा से खूब मोटी मोटी रोटियाँ बनाता है, दही के साथ उन रोटियों को प्रसन्नचित्त से खाता है। दो एक चीलम तम्बाकू पीकर कैसी स्वच्छन्दता से सो रहा है और सुबह शाम अपनी नौकरी के मामूली दो चार काम करके रात को सुख से विश्राम करता है। जीवन व्यर्थ हो गया, विफल हो गया, ऐसा ख्याल स्वप्न में भी उसके मन में नहीं उठता। संसार की उन्नति, यथेष्ट द्रुतगति से नहीं हो रही है इसके लिए वह अपने को उत्तरदायी नहीं समझता। जीवन की सफलता नामक उक्ति का कोई अर्थ नहीं है—प्रकृति का एकमात्र आदेश है जीवित रहो। नारायण सिंह उसी आदेश पर लक्ष्य रखकर ही निश्चिन्त है। और जिस अभागे वृक्ष के अन्दर मन नामक एक प्राणी गढ़ा खोदकर डेरा डाल चुका है, उसको अब विश्राम नहीं है, उसके लिए कुछ भी यथेष्ट नहीं है; उसके चारों तरफ की अवस्थाओं के साथ सभी सामञ्जस्य नष्ट हो गये हैं। वह जब जल में रहता है तब स्थल के लिए लालायित होता है, जब स्थल पर रहता है तब जल में तैरने के लिए उसमें असीम आकांक्षा जाग उठती है। इस अदम्य असन्तुष्ट मन को प्रकृति की अगाध शान्ति में निमज्जित करके यदि स्थिर होकर बैठ सकने से हम बचे रह सकते हैं, यही बात है।

●

८६

सिलाई दह
२ जुलाई १८९३

किसी वस्तु का यथार्थ उपभोग करने के लिए उसके चारों तरफ अवसर का घेरा डाल देना आवश्यक होता है। उसे अच्छी तरह

फैला दिया जाता है, बिखेर दिया जाता है, चारों तरफ बिछा दिया जाता है, ऐसा करने से ही उसको सोलहों आने वश में लाया जाता है। मुफस्सिल में अकेले रहते समय, इष्ट मित्रों की चिट्ठी-पत्रियाँ जो बहुत अच्छी लगती हैं उसका एक प्रधान कारण है—प्रत्येक अक्षर को एक एक बूँद की तरह पूर्णरूप से ग्रहण करने का अवसर मिलता है, मन की कल्पना उसकी प्रत्येक बात से लिपटती-जकड़ती जाती है, बहुत देर तक एक गति का अनुभव किया जाता है। अति लोभ में पड़कर हड़बड़ी करने से उस सुख से वञ्चित होना पड़ता है। सुख की इच्छा ऐसी तेज गति से आगे आगे बढ़ती जाती है कि, अधिकांश समयों में सुख को ही लांघ जाना पड़ता है, और पल भर में सब खतम हो जाता है। इस तरह जगह-जमीन, मामले-मुकदमे में कोई भी चिट्ठी यथेष्ट नहीं मालूम होती—मालूम होता है कि भूख मिटाने योग्य अन्न नहीं मिला। किन्तु उम्र जितनी अधिक होती जा रही है, उतना ही अधिक यही देख रहा हूँ कि, प्राप्त करना अपनी क्षमता पर निर्भर करता है। दूसरा कितना दे सकता है, इसके लिए नालिश-फरियाद करना भूल है, मैं कितना ले सकता हूँ यही है असल बात। जो अपने हाथ के पास आ जाता है, उसको ही पूर्णतः हस्तगत करना अनेक शिक्षा-साधना और संयम से होता है। वह शिक्षा प्राप्त करने में जीवन का प्रायः बारह आना समय चला जाता है, उसके बाद उस शिक्षा का फल भोग करने का फिर बहुत समय नहीं मिलता। इति सुखतत्त्व शास्त्र का प्रथम अध्याय।

●

८७

सिलाईदह
७ जुलाई १८९३

कल सारी रात तेज हवा रास्ते के कुत्ते की तरह कीचै स्वर से रोती

रही—और वर्षा की झड़ी भी बराबर लगी रही। खेतों का जल छोटे-छोटे झरनों की तरह विभिन्न दिशाओं से कल्-कल् आवाज करता हुआ नदी में आकर गिर रहा है। किसान लोग उस पार के नये खेतों से धान काट लाने के लिए बाँस के छाते या अरुई के पत्ते सिर पर रखकर भींगते-भींगते नाव से नदी पार कर रहे हैं—बड़ी-बड़ी माल लदी नावों पर माँझी पतवार पकड़े बैठे हुए भींग रहे हैं और मल्लाह गुन कंधे पर रखे नदी के किनारे-किनारे भींगते हुए जा रहे हैं, ऐसा दुर्दिन है, तो भी संसार के काम-काज बन्द रहने का उपाय नहीं है। चिड़ियाँ उदास चित्त से अपने घोसलों में बैठी हुई हैं, किन्तु मनुष्यों के लड़के घर छोड़कर बाहर निकल पड़े हैं। मेरे बोट के सामने दो चरवाहे-बालक गायों का एक झुण्ड चरा रहे हैं, गायें कचर-मचर आवाज करती हुईं वर्षा से लहलहाती हुई सरस श्यामल भीगी घासों में मुँह डाले, पूँछ हिलाते, पीठ पर की मक्खियों को खदेड़ते हुए स्निग्ध शान्त नेत्रों से चरती हुई घूम रही हैं। उनकी पीठों पर वर्षा की झड़ी और चरवाहे की लाठी लगातार पड़ रही है। ये दोनों ही उनके लिए समान अकारण है, अन्यायपूर्ण हैं, अनावश्यक हैं। वे इन दोनों को सहिष्णुता के साथ, समालोचना के बिना सह रही हैं और कचर-मचर शब्द करती हुई घास खा रही हैं। इन गायों की आँखों की दृष्टि कैसी उदास, शांत सुगम्भीर और स्नेहमय है! कौन से मनुष्यों के कामों के बोझ इन बड़े-बड़े जन्तुओं के सिर पर क्यों पड़ गये? नदी का जल प्रति दिन बढ़ता जा रहा है। परसों बोट की छत से जितना जल दिखाई पड़ता था, आज उतना बोट की खिड़की के पास बैठे रहने से दिखाई पड़ रहा है। प्रति दिन सबेरे उठकर मैं देखता हूँ कि तट का दृश्य थोड़ा थोड़ा फैलता जा रहा है, अब तक जो सामने दूरस्थ गाँवों के पेड़-पौधों की चोटियाँ, दूर जंगलों के बादलों की तरह दिखाई पड़ती थीं—आज पूर्णांग धारण कर शुरू से आखिर तक मेरे सामने आ पहुँची हैं। तट की

जमीन और जल दो लजाधुर प्रेमी-प्रेमिकाओं की तरह धीरे-धीरे एक दूसरे के समीप अग्रसर हो रहे हैं। लज्जा की सीमा अब खतम होने में देर नहीं है—प्रायः आलिङ्गन हो ही रहा है। इस परिपूर्ण बादल वाले दिन में, भरी नदी में नाव से यात्रा करना बहुत अच्छा लगेगा, इसलिये बँधे हुए बोट को चला देने के लिए मन अधीर हो गया है।





सिलाईदह
४ जुलाई १८६३

आज सबेरे धूप का कुछ-कुछ आभास मिल रहा है। कल शाम से ही वर्षा होने लगी है, किन्तु आकाश के किनारे-किनारे ढेर के ढेर इतने बादल जमा हो गये हैं कि आशा बहुत नहीं है। मानो बादलों के काले कार्पेट को समूचे आकाश से समेट कर, बटोर कर, किसी ने आकाश के एक छोर पर जमा कर दिया है, अभी तुरन्त ही जोरदार हवा उठ जायगी और उन्हें फिर समस्त आकाश में बिछा देगी, तब नीले आकाश और सुनहली धूप का चिन्हमात्र भी न दिखाई पड़ेगा। इस बार आकाश में इतना जल भी था! हमारी रेती पर, नदी का जल पहुँच गया है। किसान कच्चे धान काट कर नाव पर लाद कर ले आ रहे हैं। मेरे बोट के पास से उनकी नावें जा रही हैं और बराबर हाहाकार सुन रहा हूँ—और कुछ दिन बचे रहने से धान पक जाता पर, समय से पूर्व कच्चा धान काट लाना किसान के लिए कितना कष्टदायक है, यह बात खूब समझ में आ जाती है। उन्हें आशा है कि शायद बालियों में कुछ भी धान कड़े हो गये हों।

प्रकृति की कार्यप्रणाली में कहीं न कहीं दया नामक वस्तु अवश्य ही है, नहीं तो हमें वह मिली कैसे—किन्तु वह ठीक किस जगह है

ढूँढ़ने से पा लेना कठिन है । इन हजारों-लाखों अभागों की नालिश कहीं पर पहुँच नहीं रही है, वर्षा जैसी होनी चाहिये, वैसी हो रही है । नदी का जल जिस तरह बढ़ना चाहिये उसी तरह बढ़ रहा है, सारे संसार में इस सम्बन्ध में किसी से विचार पाने का उपाय नहीं है—किन्तु संसार में दया और न्याय-विचार मौजूद है या नहीं, यह समझ लेना नितान्त आवश्यक है । किन्तु यह सब झूठमूठ की तुच्छ चिन्तायें हैं—क्योंकि सृष्टि कदापि सम्पूर्ण सुखदायक हो नहीं सकती । जबतक अपूर्णता रहेगी, तब तक अभाव रहेगा, तबतक दुःख भी अवश्य रहेगा । जगत् यदि जगत् नहीं होता, वह ईश्वर होता तो उस हालत में कहीं कोई त्रुटि नहीं रहती—किन्तु इतनी दूरी तक विचार करने का साहस नहीं होता । सोचकर देखने से सभी बातों के मूल में यही प्रश्न उठता है कि यह सृष्टि क्यों हुई—किन्तु उसके सम्बन्ध में यदि कोई आपत्ति न उठायी जाय तो, जगत् में दुःख क्यों है यह शिकायत उठाना निरर्थक है, इसीलिए बौद्ध लोग एक दम जड़ में ही कुठाराघात करना चाहते हैं, वे कहते हैं कि जबतक अस्तित्व है, तबतक दुःख का संशोधन नहीं हो सकता, इसलिए हमें एकदम निर्वाण चाहिये । क्रिस्तान लोग कहते हैं दुःख खूब बड़ी चीज है, ईश्वर ने स्वयं मनुष्य बनकर हमारे लिए कष्ट स्वीकार किया था । किन्तु नैतिक दुःख एक चीज है, और पका धान डूब जाने से जो दुःख होता है वह दूसरे प्रकार का दुःख है । मैं कहता हूँ कि, जो कुछ हुआ है, वह बहुत अच्छा हुआ है । यह जो मैं हुआ हूँ और यह आश्चर्यजनक संसार हुआ है, यह अच्छा ही है—ऐसी वस्तु नष्ट न होने में भी अच्छाई है । बुद्ध-देव इसके उत्तर में कहते हैं, इस वस्तु की रक्षा यदि करना है, तो दुःख सहना पड़ेगा । मैं नराधम इसके उत्तर में कहता हूँ, 'अच्छी चीज और प्रिय वस्तु की रक्षा करने में यदि दुःख सहना पड़े तो मैं दुःख सहूँगा ।' मैं रहूँ और मेरा यह जगत् रहे । कभी-कभी अन्न-वस्त्र का

कष्ट, मानसिक क्षोभ, नैराश्य सहना पड़ेगा, किन्तु उस दुःख की अपेक्षा जब कि मैं अस्तित्व को ही अधिक प्यार करता हूँ, अस्तित्व के ही लिए उस दुःख को सहता हूँ, तो फिर और कोई बात कहना शोभा नहीं देता।



८९

इछामती
७ जुलाई १८९३

कल दिन भर खूब साफ मौसम था। बहुत दिनों के बाद बादल उड़ जाने से दशो दिशाएँ चमक उठी थीं, मालूम हो रहा था, मानो प्रकृति, स्नान करने के बाद नयी धुली बासन्ती रङ्ग की साड़ी पहने परिच्छन्न प्रसन्न, प्रफुल्ल मुख से अपने भीगे बाल मृदु मन्द हवा में सुखा रही है। अपना काम करके शामको साढ़े चार या पाँच बजे मैंने बोट छोड़ दिया तब पूरब तरफ एक बहुत घना बादल उठ पड़ा। धीरे-धीरे हवा भी बढ़ने लगी और कुछ वर्षा भी हुई। जब मैं उस शाखा नदी में घुस पड़ा तब वर्षा शुरू हो गई। जल से रेती डूब गई थी। मनुष्य की लम्बाई की बराबरी की घास और झुड़ुओं के बीच से गुन खींचने से बोट सरसराता हुआ चलने लगा। थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर अनुकूल हवा मिली। मैंने पाल उतारने को कहा तो पत्थर गिरा दिया गया। दोनों तरफ लहरों का चीरता हुआ, कलकल शब्द करता हुआ वह बोट गर्व के साथ चलने लगा। मैं कुर्सी लेकर बाहर बैठ गया। उन निविड़ नील बादलों के अन्तराल में अर्ध निमग्न जल शस्य रेती और चतुर्दिक फैली हुई नदी में कितनी अद्भुत चीज है, इसका वर्णन करने की चेष्टा मैं न करूँगा। विशेषतः आकाश के अति दूरस्थ छोर पर गङ्गा की जलरेखा के ठीक ऊपर ही, जहाँ बादल कुछ पतले

हो गये थे, वहाँ अत्यन्त अधिक सुनहला रङ्ग छा गया था, उस स्वर्ण-पट के ऊपर पंक्तिबद्ध खड़े लम्बे-पतले पेड़ों की चोटियाँ बहुत ही सुकोमल सुनील रेखाओं से अङ्कित हो गयी थीं। मालूम हो रहा था मानो वहाँ प्रकृति अपनी चरम परिणति को पहुँच कर एक कल्पनालोक में जाकर खतम हो गयी है। माझी ने पूछा,—बोट रेती के कचहरी घाट पर लगा दूँ क्या ? मैंने कहा, नहीं पद्मा को पार कर दे, माझी ने बोट चला दिया। हवा तेज बहने लगी, पद्मा नृत्य करने लगी, पाल फूल उठा, दिन का उजाला मिट गया। आकाश के नीचे किनारे जो बादल लगे थे, वे आकाश के बीच आकर घोर घटा में जमा हो गये, चारों तरफ पद्मा का उदास चञ्चल जल करतल ध्वनि करने लगा। सामने दूरवर्ती नीले बादलों के स्तूपों के नीचे पद्मा नदी की तटवर्ती नीली वन-रेखा दिखाई पड़ने लगी। नदी के बीच हमारे बोट के अति-रिक्त दूसरी एक भी नाव नहीं थी। तट के आस पास दो-चार मछुओं की डोंगियाँ छोटे-छोटे पाल उड़ाती हुईं घरों की तरफ जा रही थीं। मैं मानो प्रकृति के राजा की तरह बैठा हुआ था और मुझे उसका अदम्य फेनिल मुखवाला राजसी घोड़ा नाचता हुआ ले जा रहा है।

●

६०

शाहजादपुर
७ जुलाई १८९२

छोटे-छोटे गाँवों, टूटे-फूटे घाटों, टीन की छाजन वाले बाजारों, बाँस के घेरे वाली अमराइयों, बाँस की झाड़ियों, आम कटहल-खजूर, सेमर-केला, मन्दार, रेंड़, ओल, अरुई लतागुल्म, घास से घिरे हुए झाड़-झंखाड़ जङ्गलों, घाटों पर बँधी हुई मस्तूल वाली बड़ी बड़ी नावों, निमग्नप्राय धान और अर्धमग्न पाट के खेतों के बीच से क्रमशः घूमता-

फिरता कल सन्ध्या को शाहजादपुर पहुँच गया। बहुत दिन तक बोट में रहने के बाद शाहजादपुर का यह मकान बहुत अच्छा लगता है—मानो यहाँ एक नयी स्वतन्त्रता मिल जाती है—अपनी रुचि के अनुसार हिलने-डोलने और शरीर फैलाने के लिए जगह पाना मनुष्य के मानसिक सुख का एक प्रधान अङ्ग है, यह हठात् समझ लिया जाता है। आज सवेरे जब-तब कुछ धूप अच्छी तरह दिखाई पड़ रही है, हवा तेज बह रही है, झाऊ और लीची के पेड़ लगातार सर्-सर् शब्द करते हुए हिल रहे हैं, विभिन्न जाति के पक्षी की बोलियों और सुरों में बोलते हुए प्रातःकाल की मजलिस को शोभनीय बना रहे हैं। मैं अपने दुमञ्जिले के इस सङ्गीतहीन प्रशस्त निर्जन प्रकाशमय खुले कमरे में बैठा हुआ, खिड़की से नहर में चलने वाली नावों, उसपार के पेड़ों के बीच वाले गाँव और उस पार के निकटस्थ मकानों में चलने वाले मृदु कर्म-प्रवाह का निरीक्षण करता हुआ बहुत ही आनन्द में हूँ। गाँव देहात का कर्म-स्रोत खूब तेज भी नहीं है, साथ ही एकदम निश्चेष्ट, निर्जीव भी नहीं है। काम और विश्राम दोनों ही मानों आसपास एक दूसरे का हाथ पकड़े चल रहे हैं। नावें लोगों को आरपार पहुँचा रही हैं, पथिक हाथ में छाता लिये खाल के किनारे वाले रास्ते से जा रहे हैं, स्त्रियाँ डलिया डुबाकर चावल धो रही हैं, किसान अँटियों में बँधा पटुआ सिर पर लिये बाजार जा रहे हैं। दो आदमी पेड़ की धड़ जमीन पर गिरा कर कुल्हाड़ी से ठक्-ठक् शब्द करते हुए लकड़ी काट रहे हैं, एक बढ़ई पीपल के पेड़ के नीचे मछली पकड़ने वाली डोंगी उलट कर रुखानी से उसकी मरम्मत कर रहा है, गाँव का कुत्ता नहर के किनारे किनारे उद्देश्यहीन भाव से घूम फिर रहा है, कुछ गायें बर-साती घास अत्यन्त अधिक खाकर शिथिल होकर जमीन पर बैठी हुई हैं और कान-पूँछ हिला हिलाकर मक्खियों को खदेड़ रही हैं, और उनकी पीठ की रीढ़ पर जब कौआ बैठकर बहुत अधिक परेशान करने

लगता है तब अपना सिर पीठ की तरफ से ले जाकर आपत्ति प्रकट कर रही हैं। यहाँ के ये दो-चार ठक्-ठक् शब्द, नङ्ग-धड़ङ्ग बच्चे-बच्चियों के खेलने का कल्लोल, चरवाहे का करुण ऊँचे स्वर का गान, डाँड़ों की झुप्-झुप् आवाज, तेली की घानी की तीखी-रूखी आवाज, ये सभी कर्म-कोलाहल एक साथ मिलकर ऐसे बन गये हैं कि, पक्षियों की बोली और पत्तियों की आवाज के साथ इनका जरा भी असामञ्जस्य नहीं रहता। सब ही मानों एक शान्तिमय, स्वप्नमय, करुणा मिश्रित एक बड़े सङ्गीत के अन्तर्गत है—खूब विस्तृत बृहत्, साथ ही संयत मात्रा में में बँधे हुये हैं। मेरे मस्तिष्क में सूर्य का प्रकाश और ये शब्द मानों एकदम लबालब भर गए हैं, इसलिए चिट्ठी लिखना छोड़कर अब थोड़ी देर पड़े रहना ही ठीक है।

६१

शाहजादपुर
१० जुलाई १८९२

ये सब गान मानों जरा एकान्त स्थान में गाने लायक हैं। इस गीत का सुर बिगड़ गया है ऐसा मेरा विश्वास नहीं है, यहाँ तक कि अच्छा हुआ है कहने से अधिक अत्युक्ति न होगी। इस गीत को मैंने अपने स्नानघर में थोड़ा-थोड़ा सुर रचते-रचते बहुत दिनों में तैयार किया था। स्नानघर में गीत तैयार करने में बड़ी बड़ी सुविधाएँ हैं। पहली सुविधा है एकान्त स्थान मिलना, दूसरे कर्तव्य का दबाव नहीं रहना। सिर पर एक टीन जल डालकर पाँच मिनट गुनगुन करने से कर्तव्य-ज्ञान पर विशेष आघात नहीं लगता—सबसे बड़ी सुविधा यह है कि किसी के देखने की सम्भावना न रहने से पूरा मुँह खोलकर गाया जा सकता है। बिना पूरा मुख खोले गीत तैयार करने की पूरी अवस्था

किसी तरह भी नहीं आ सकती। कहा जाता है यह तो कोई युक्ति-संगत बात नहीं है—एकदम पागलपन की बात है, पर इसी तरह मैं अब भी गाया करता हूँ—आज प्रातःकाल भी मैं बहुत देर तक गुनगुन कर चुका हूँ, गाते गाते एक तरह का गम्भीर भावोन्माद भी पैदा हो जाता है। इसलिये इसमें सन्देह नहीं कि यह मेरा एक प्रिय गान है।

यहाँ मैं अकेले खूब मुग्ध और तल्लीनता से अधमूँदी आँखों से गाया करता हूँ और जीवन के साथ ही यह पृथ्वी भी सूर्य किरणों की भाँति चमकते हुए सूक्ष्म अश्रुवाष्प से ढँक जाने पर सात रंग वाले इन्द्रधनुष की रेखाओं से रंजित होकर दिखाई पड़ने लगती है। तब प्रतिदिन के सत्य को चिर दिन के सौन्दर्य में परिणत कर दिया जाता है—दुःख कष्ट भी चमकदार हो उठते हैं। थोड़ी ही देर में खजाञ्ची एक छटाँक मक्खन, एक पाव घी और छः पैसे के सरसों के तेल का हिसाब मेरे पास दे जाता है। यहाँ का मेरा इतिहास ऐसा ही है।

●

९२

शाहजादपुर
३० आषाढ़ १८९२

आज कल कविता लिखना मेरे लिए एक गुप्त, निषिद्ध सुखसम्भोग की तरह हो गया है—इधर अगले महीने की 'साधना' के लिए एक लाइन भी लिखा नहीं गया—उधर जब तब सम्पादक का तकाजा आ रहा है, निकट ही आश्विन-कार्तिक की 'साधना', रिक्त हाथ से मेरे मुँह की तरफ ताकती हुई भर्त्सना कर रही है, और मैं अपनी कविता के अन्तःपुर में भागते भागते आश्रय ले रहा हूँ। आज एक दिन की ही तो बात नहीं। इसी तरह कितने दिन बीत गये। मैं वास्तव में समझ नहीं सकता कि कौन काम मेरा अपना असली काम है। कभी-कभी

खयाल उठता है, मैं छोटे छोटे अनेक गल्प लिख सकता हूँ। कोई खराब नहीं लिखता—लिखते समय सुख भी मिलता है। कभी-कभी यह विचार उठता है कि मस्तिष्क में ऐसे बहुत से भाव जाग उठते हैं जो ठीक कविता में व्यक्त करने योग्य नहीं हैं, उन्हें डायरी आदि तरह-तरह के आकारों में प्रकाशित करके रख देना अच्छा है। शायद इसमें फल भी है, आनन्द भी है। कभी-कभी सामाजिक विषय को लेकर अपने देश के लोगों के साथ झगड़ा करना बहुत जरूरी है। जब कि और कोई नहीं करता तब मुझे यह अप्रिय कर्त्तव्य ग्रहण करना पड़ेगा—फिर कभी-कभी मुझे खयाल होता है, दूर हो यह निकम्मी पृथ्वी, पृथ्वी अपने चरखे में आप ही तेल डालेगी, छन्दोबद्ध कविताएँ मैं अच्छी लिख सकता हूँ। सब छोड़-छाड़कर अपने मन से अपने मन के कोने में वही काम करना ठीक है। मदगर्विता युवती जैसे अपने बहुत से प्रेमियों को लेकर किसी को भी हाथ से जाने देना नहीं चाहती, मेरी दशा कुछ ऐसी ही हुई है।

साहित्य-विभाग में भी कर्त्तव्य-बुद्धि का अधिकार है, किन्तु दूसरे विभाग की कर्त्तव्य-बुद्धि के साथ उसका कुछ फर्क है। किससे इस पृथ्वी का सबसे अधिक उपकार होगा, [illegible] में इस बात को सोचने की जरूरत नहीं है, किन्तु [illegible] में [illegible] अच्छा कर सकता हूँ यही विचारणीय विषय है। सम्भवतः जीवन के सभी विभागों की यही हालत है। मेरी बुद्धि में जितनी बातें समझ में आती हैं उनसे यही जान पड़ता है कि कविता पर ही मेरा [illegible] है। किन्तु मेरा क्षुधानल विश्व-राज्य और [illegible] चारों ओर अपनी ज्वलन्त शिखा प्रसारित [illegible] लगाता हूँ तब मालूम होता है। यदि [illegible] खराब बात नहीं है। फिर जब किसी [illegible] ऐसा नशा सवार हो जाता है कि [illegible]

मनुष्य अपना जीवन लगा सकता है। फिर जब "बालविवाह" अथवा 'शिक्षा का हेर-फेर' लेकर हम उठ पड़ते हैं तब मालूम होता है कि यही जीवन का सर्वोच्च काम है। फिर लज्जा हटाकर यदि सच बोलना पड़े तो यह स्वीकार करना पड़ता है कि चित्र-विद्या नामक जो एक विद्या है, उसके प्रति भी मैं हताश प्रेम की तरह लुब्ध दृष्टि से ताकता रहता हूँ—किन्तु अब उसे पाने की आशा नहीं है, साधना करने का समय बीत गया। अन्यान्य विद्याओं की तरह उसे भी पाने का उपाय नहीं है—धनुष तोड़ने की प्रतिज्ञा-सा वह कठिन काम है—तूलिका चलाते-चलाते एकदम परेशान न होने से उनको प्रसन्न नहीं किया जा सकता। केवल कविता को लेकर उसी में व्यस्त रहना मेरे लिए सुविधा का काम है। मालूम होता है कि मेरे ऊपर उनकी ही सबसे अधिक कृपा है, वे मेरे बचपन की, बहुत दिनों की अनुरागिनी सङ्गिनी हैं।

नीरव कवि के सम्बन्ध में जो प्रश्न उठा है उस सम्बन्ध में मेरा वक्तव्य यह है कि स-रव और नी-रव के बीच अनुभूति का परिमाण समान रह सकता है, किन्तु असल कविता एक पृथक वस्तु है। केवल भाषा की शक्ति के कारण नहीं, गठन करने की शक्ति के कारण। एक अलक्षित, अचेतन, निपुणता के बल से, ये सब भाव कवि के हाथ में पड़कर विचित्र आकार धारण करते हैं। वही सृजन-क्षमता कवित्व की जड़ है। भाषा, भाव और अनुभाव उसकी सामग्री मात्र है। किसी में भाषा है, किसी में अनुभाव है, किसी में भाषा और अनुभाव दोनों ही हैं, किन्तु एक और व्यक्ति है जिसमें भाषा अनुभाव और सृजन शक्ति है—इस शेषोक्त व्यक्ति को हम कवि कह सकते हैं। प्रथमोक्त व्यक्ति नीरव भी हो सकते हैं सरव भी हो सकते हैं; किन्तु वे कवि नहीं हैं। उनमें से किसी-किसी को भावुक कहने से ही ठीक विशेषण का प्रयोग करना होगा। वे लोग भी संसार में अत्यन्त दुर्लभ हैं और कवि का तृषित चित्त सदा ही उनके लिए व्याकुल रहता है।

ऊपर की इस भूमिका के बाद 'जाल डालना', शीर्षक कविता की व्याख्या करना कुछ सहज होगा। जो कुछ लिखा गया था वह सामने रहता तो उसका अर्थ जरा अच्छी तरह समझ कर समझाने की चेष्टा कर सकता—तो भी एक धुँधला-सा भाव मुझे याद है। मान लो एक व्यक्ति अपने जीवन के प्रभात काल में समुद्र के किनारे खड़ा-खड़ा सूर्योदय देख रहा है। वह समुद्र, उसके अपने मन अथवा उस बाहर के विश्व अथवा दोनों की सीमा के मध्यवर्ती एक भाव का पारावार है, यह बात साफ बतायी नहीं गयी है। जो भी हो, उस अपूर्व सौन्दर्यमय अगाध समुद्र की तरफ ताकते-ताकते उस मनुष्य को यह खयाल हुआ कि इस रहस्य-पाथार में जाल डाल कर देख लूँ कि कौन चीज़ें मिलती हैं। यह कहकर उसने जाल डाल दिया। तरह-तरह की अद्भुत चीजें निकलने लगीं, कोई तो हँसी की तरह सफेद थी, कोई आँसू की तरह चञ्चल थी, कोई लज्जा की तरह लाल थी। मन के उत्साह से उसने सारा दिन केवल यही काम किया। नीचे गहराई की पेंदी में जो सब सुन्दर रहस्य थे उन्हें किनारे लाकर ढेर करने लगा। इसी तरह उसने जीवन के सब दिन बिता दिये। सन्ध्या को उसने सोचा, इस बार के लिए यथेष्ट हो गया, अब इन्हें लेकर जाऊँ और उसे दे आऊँ। किसको देना है यह बात स्पष्ट रूप से बतायी नहीं गयी है—हो सकता है कि अपनी प्रेयसी को या अपने स्वदेश को। किन्तु जिसे वह देने जा रहा था उसने तो इन अपूर्व चीजों को कभी देखा नहीं था। उसने सोचा, इसकी आवश्यकता ही क्या है, इससे कौन सा अभाव दूर होगा, दूकानदार के पास ले जाने से इसका कितना मूल्य आंका जा सकेगा। एक बात में, यह विज्ञान, दर्शन, इतिहास, भूगोल, अर्थनीति, समाजनीति, धर्मनीति, तत्त्वज्ञान आदि कुछ भी नहीं है, यह तो केवल कुछ रङ्गीन भाव मात्र हैं, इनमें से किसका क्या नाम है, विवरण क्या है, इसका भी पूरा परिचय नहीं मिलता। फलतः सारा दिन जाल डालकर अथाह

समुद्र से निकाले गये ये रत्न जिसको दिये गये उसने कहा, यह क्या है। तब जाल डालने वाले के भी मन में अनुताप हुआ, वह बोला— सच तो है, यह तो कोई विशेष वस्तु नहीं है। मैंने केवल जाल डाला है और निकाला, मैं बाजार में भी नहीं गया, रुपये पैसे भी खर्च नहीं किये, इसके लिए मुझे किसी को एक पैसा भी महसूल या कर नहीं देना पड़ा। यह सोचकर उसने तब कुछ उदास होकर, लज्जित होकर उन्हें बटोरकर अपने घर के दरवाजे पर बैठ उन्हें एक एक करके रास्ते पर फेंक दिया। उसके दूसरे दिन प्रातःकाल राहगीर पास के रास्ते से जाते समय उन चीजों को लेकर अपने-अपने घर ले गये।

सम्भवतः जिन्होंने यह कविता लिखी है उनका यही खयाल है कि उनकी गृहकार्य में निरत रहने वाली जन्मभूमि, उनकी समसामयिक पाठक-मण्डली, उनकी कविताओं के भावों को भलीभाँति समझ न सकेगी। कविता का मूल्य कितना है इसे समझने की शक्ति उनमें नहीं है। इस कारण इस समय इन्हें रास्ते में ही फेंक देना ठीक है—तुम लोग भी इनकी अवहेला करो, मैं भी अवहेला करता हूँ, किन्तु जब यह रात बीत जायगी, सवेरा हो जायगा, तब 'पास्टरिटी' आकर इन्हें बटोर कर देश विदेश में ले जायगी।

किन्तु इतना सोचने से ही क्या उस जाल डालने वाले के मन के दुःख आक्षेप मिट जायँगे। जो भी हो, पास्टरिटी अभिसारिका की तरह सारी रात धीरे-धीरे कवि की तरफ अग्रसर हो रही है, और सम्भव है रात्रि के अन्त में वह पास पहुँच भी सकेगी! यह सुखद कल्पना कवि को भोग करने देने में शायद किसी को आपत्ति नहीं भी हो सकती। उस मन्दिर सम्बन्धी कविता का ठीक अर्थ क्या है मुझे अच्छी तरह याद नहीं पड़ता। सम्भवतः वह यथार्थ मन्दिर के सम्बन्ध में है। अर्थात् जब कोने में बैठे बैठे कुछ कृत्रिम कल्पनाओं से अपने देवता को आच्छन्न कर अपने मन को भी एक अस्वाभाविक उत्तेजित अवस्था में ले जाते

हैं, उसी समय यदि हठात् एक संशय-वज्र के गिर जाने से ये सुदीर्घ समय की कृत्रिम दीवारें टूट जायँ, तब एक-एक प्रकृति की शोभा, सूर्य का प्रकाश और विश्वजन के कल्लोल-गान आकर तन्त्र-मन्त्र धूपधूना का स्थान अधिकार कर लेते हैं, और तब हम देख लेते हैं कि यही है यथार्थ आराधना और इसी से देवता को प्रसन्नता होती है।

●

९३

पतिसर

११ अगस्त १८९३

बहुत बड़ी बड़ी झीलों के बीच से आना पड़ा है। ये झीलें बहुत ही अद्भुत हैं—इनका कोई आकार-आयतन नहीं है, जल-स्थल से एकाकार हैं। समुद्रगर्भ से निकलते समय पृथ्वी की जो दशा थी वही दशा इनकी है। कहीं भी कोई किनारा नहीं है। कहीं थोड़ा जल है, कहीं कुछ जलमग्न धान के पौधों के मस्तक दिखाई पड़ते हैं, कहीं सेवार भरे हुए हैं और जलज तैर रहे हैं। जल-पक्षी तैर रहे हैं, जाल डालने के लिए बड़े बड़े बाँस गाड़ दिये गये हैं, उनके ऊपर भूरी आँखों वाली चीलें बैठी हुई हैं—बहुत एकाकार एक ही किस्म का दृश्य है। बहुत दूर द्वीप की तरह गाँव के चिह्न दिखाई पड़ रहे। चलते चलते कुछ दूर जाने पर फिर कुछ दूर तक कोई नदी मिलती है, जिसके दोनों तटों पर गाँव, पटुए के खेत और बाँस की झाड़ियाँ दिखाई पड़ती हैं। फिर वही नदी कहाँ कब झाल में जाकर मिल जाती है इसे समझने का उपाय नहीं है।

ठीक सूर्यास्त के लगभग जब एक गाँव के पास से मेरी नाव चल रही थी, तब एक लम्बी नाव पर बहुत से लड़के झप्-झप् डाँड़ चला रहे थे और ताल मिलाकर गा रहे थे—

युवती, क्यों मन को करती हो भारी।
पबने से ला दूँगा मैं एक रुपये की मोटरी॥

स्थानीय कवि ने जिस भाव को पकड़कर संगीत रचना की है, उस भाव को लेकर हमलोग भी बहुत लिख चुके हैं, किन्तु कुछ अन्तर है। हमारी युवतियाँ जब मन भारी कर लेती हैं तब हम तुरन्त जीवन अथवा नन्दन-कानन से पारिजात लाकर उन्हें देने को तैयार हो जाते हैं। किन्तु इस अञ्चल के लोग बहुत सुखी हैं यह बात कहनी पड़ेगी। थोड़ा-सा त्याग स्वीकार करने से ही युवती को प्रसन्न कर सकते हैं। मोटरी नामक चीज क्या है यह बताने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है, किन्तु उसका मूल्य साथ ही बता दिया गया है। इसी से समझा जा सकता है कि यह कोई बहुत दामी चीज नहीं है, और नितान्त अगम्य स्थान से भी इसे लाना पड़ता। यह गाना सुनकर मैं बहुत खुश हुआ। युवती का मन भारी होने से संसार में जो आन्दोलन उपस्थित होता है, यह खबर इस झील के पास भी मिल गयी। यह गान केवल कुस्थान में ही हास्यजनक है, किन्तु देश-काल—पात्र-विशेष में इसमें यथेष्ट सौन्दर्य है। मेरे इस अज्ञात नाम वाले कवि भ्राता की रचनाएँ भी इस गाँव के सुख दुःख के लिए नितान्त आवश्यक है—मेरे बनाये हुए गीत वहाँ के लोगों के लिए कम हास्यजनक नहीं हैं।

६४

पतिसर

१३ अगस्त १८९३

इस बार इस झील के मार्ग से आते आते मेरे मस्तिष्क में एक विचार बहुत ही स्पष्ट रूप से जाग उठा है। यह कोई नई बात नहीं है, बहुत दिनों से मैं इसे जानता हूँ, किन्तु फिर भी कभी कभी पुरानी बात

भी नये रूप में अनुभव में लायी जाती हैं। दोनों तरफ, दोनों तटों से सीमाबद्ध न रहने से जलस्रोत की कोई वैसी शोभा नहीं रहती। झील तो अनिर्दिष्ट, अनियन्त्रित, एक ही प्रकार की है और शोभाहीन है। भाषा के सम्बन्ध में कहना पड़ता है कि छन्दों का बन्ध, तट का काम करता है। तटों से नदियों का जैसे एक स्वतन्त्र व्यक्ति की तरह मालूम होती हैं, वैसे ही छन्दों से कविता एक मूर्तिमान अस्तित्व की तरह हो जाती है। गद्य का उस तरह सुन्दर सुनिर्दिष्ट स्वातन्त्र्य नहीं है, वह एक बृहत् विशेषत्वहीन झील की तरह है। फिर तटों से आबद्ध रहने से ही नदी में एक वेग रहता है, एक गति रहती है; किन्तु प्रवाह-हीन झील केवल विस्तृत भाव से चारों तरफ फैलकर पड़ी रहती है। भाषा को यदि एक आवेग, एक गति देने की जरूरत हो, तो उसे छन्दों की संकीर्णता में बाँध देना पड़ता है, नहीं तो वह केवल व्याप्त हो जाती है, पूरे बल के साथ एक तरफ दौड़ नहीं सकती। झील के जल को देहाती लोग गूँगा जल कहते हैं, उसकी कोई भाषा नहीं है, अपने को प्रकट करने का कोई बल उसमें नहीं है। तटबद्ध नदी में सदा एक कलध्वनि सुनाई पड़ती है; छन्दों में बाँध देने से शब्द भी एक दूसरे पर आघात संघात करके संगीत की सृष्टि करते हैं—इसलिए छन्द की भाषा गूँगी भाषा नहीं है, उसके मुँह से बराबर सुन्दर गान निकलता है। बन्धन के बीच रहने से ही गति का सौन्दर्य है, ध्वनि का सौन्दर्य और आकार का सौन्दर्य है। बन्धन में रहने से जैसा सौन्दर्य रहता है, वैसी ही शक्ति रहती है। कविता ने जो स्वभावतः ही धीरे-धीरे एक छन्द में आबद्ध होकर अपने को परिस्फुट कर दिया है, वह एक कृत्रिम अभ्यासजात सुख के लिये नहीं, उसका एक गम्भीर स्वाभाविक सुख है। बहुत से मूर्ख समझते हैं कि कविता को छन्दोबद्ध करना केवलमात्र बहादुरी है, उससे केवल साधारण व्यक्तियों को आश्चर्य और सुख होता है। वह तो केवल भाषा का व्यायाम है। किन्तु

यह विचार भारी भूल है। कविता का छन्द जिन नियमों से बना है, समग्र संसार का समस्त सौन्दर्य ही उन्हीं नियमों से उत्पन्न हुआ है। एक सुनिर्दिष्ट बन्धन के बीच से तेज गति से प्रवाहित होकर मन में आघात पहुँचाने के कारण ही सौन्दर्य की ऐसी अनिवार्य शक्ति है, और सुषमा का बन्धन हटाकर चले जाने से ही सब एकाकार हो जाता है। उसमें फिर आघात करने की शक्ति नहीं रहती। झील को पार करके ज्योंही नदी में और नदी को पार करके ज्यों ही झील में पहुँच गया था, त्योंही मेरे मन में यह तत्व देदीप्यमान होकर जाग उठा था।

●

९५

पतिसर,

२६ सावन १८९९

मैं बहुत दिनों से विचार करके समझ गया हूँ कि पुरुषों का स्वभाव कुछ विशृङ्खल है और स्त्रियों का सुसम्पूर्ण है। स्त्रियों की बात-चीत, वेशभूषा, चालचलन, आचार-व्यवहार और जीवन के कर्तव्यों में एक अखण्ड सामञ्जस्य है! इसका प्रधान कारण यह है कि युग-युगान्तरों से प्रकृति ने उनका कार्य स्वयं निर्धारित कर उन्हें आदि से अन्त तक उसी भाव से, उसी तरह, उसी उद्देश्य से गठित कर दिया है। आज तक किसी परिवर्तन, किसी राष्ट्रविप्लव, सभ्यता के किसी निर्माण-विनाश ने उन्हें उस एकता से हटाया नहीं है। वे सदा सेवा करती रही हैं, प्यार करती रही हैं, आदर करती रही हैं, और कुछ उन्होंने नहीं किया है। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गों में उनकी भाषा और भङ्गी में, काम, सुन्दरता और निपुणता मानो मिलकर एक हो गयी हैं; उनका स्वभाव और उनका काम मानो फूल और फूल की गन्ध की तरह सम्मिलित हो गये हैं; इसीलिए उनमें कोई विरोध, कोई हिचक नहीं है। पुरुष का चरि-

बहुत ऊबड़-खाबड़ है; वे तरह-तरह के कामों, तरह-तरह की शक्तियों, तरह-तरह के परिवर्तनों के बीच से तैयार होते आये हैं, उनके शरीर पर और स्वभाव में मानो उनके चिह्न रह गये हैं। कहीं भी कुछ नहीं है, ललाट शायद बहुत ऊँचा हो गया है, बीच से नाक ऐसी ऊँची बन गयी है कि उसको दबा रखने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। दोनों जबड़ों ने शायद सुषमा का कोई नियम नहीं माना है। यदि चिरकाल से पुरुष एक ही तरह परिचालित होता रहता, एक काम की शिक्षा उसे मिलती रहती, तो उस हालत में उनके भी मुख और स्वभाव में एक सामञ्जस्य रह जाता, एक साँचा बहुत दिनों से तैयार हो जाता, तो उस दशा में उसे बल प्रयोग करके, बहुत सोच-विचार करके काम नहीं करना पड़ता। सभी काम सुन्दरता से सहज भाव से सम्पन्न होते, उस दशा में उसके लिए एक सहज नीति भी तैयार हो जाती—अर्थात् बहुत युगों से लगातार वे जो काम करते आये हैं उसी काम के सामने उनका मन वश मान जाता, बहुत युगों के उसके अभ्यस्त कर्तव्य से कोई साधारण शक्ति उन्हें हटा नहीं सकती। प्रकृति ने स्त्रियों को माँ बनाकर उन्हें एकदम साँचे में ढाल दिया है। पुरुषों को वैसा कोई स्वाभाविक बन्धन नहीं है, इसीलिए एक ध्रुव केन्द्र के सहारे पुरुष पूर्ण रूप से तैयार नहीं हुआ है। वह चिरकाल से केवल शिक्षित ही होता आया है। उसकी शतमुखी उच्छृङ्खल प्रवृत्ति ने उसे एक सुन्दर सम-ग्रता में तैयार नहीं किया है। उस दिन की चिट्ठी में मैंने जो लिखा था कि बन्धन सौन्दर्य का कारण है, वह मुझे याद है। स्त्रियाँ उसी तरह एक स्वाभाविक छन्द के बन्धन से सम्पूर्ण सुन्दर बन गयी हैं, और पुरुष गद्य की तरह बन्धनहीन और सौन्दर्यहीन हैं—उनके श्रादि-श्रन्त में कोई एक साँचा नहीं है। सदा से लोग स्त्रियों के साथ चाँदनी, कोमलता, लता, फूल, नदी की तुलना करते आये हैं और कभी पुरुषों के साथ ऐसी तुलना करने की बात उनके मन में उदित नहीं हुई,

उसका कारण भी यही है। प्रकृति की सभी सुन्दर वस्तुएँ जैसी सुसम्बद्ध, सुसम्पूर्ण, सुसंयत और सुश्रृङ्खल हैं, स्त्रियाँ भी वैसी ही हैं। कोई द्विधा, कोई चिन्ता, कोई मन उनके बीच आकर उनको विश्रृङ्खलित नहीं करता, कोई भी तर्क आकर उनका मेल नष्ट नहीं करता।



९६

कलकत्ता
२१ अगस्त १८९३

आज कुछ अखबारों के टुकड़े, जो कैंची से काटे गये हैं मेरे पास आ गये हैं। पेरिस के आर्टिस्ट सम्प्रदाय की असभ्य उन्मत्तता और मेरे कालीग्राम के सीधे-सादे किसान प्रजाजनों के दुःख-दैन्यपूर्ण निवेदन-आवेदन में कितना फर्क है। मेरी दृष्टि में इन दुःख-पीड़ित अटल विश्वासपरायण, अनुरक्त प्रजाजनों के चेहरे पर एक बहुत कोमल माधुर्य है, मानो ये मेरे बृहत् परिवार के ही आदमी हैं। इन असहाय निरुपाय, सरल स्वभाव के किसानों को स्वजन मानने में एक सुख है। ये लोग बहुत दुःख, बहुत धैर्य के साथ सह रहे हैं, तो भी इनका प्रेम किसी तरह भी म्लान नहीं होता। आज एक आदमी ने आकर कहा—'इस साल धान की पैदावार अच्छी नहीं हुई, इसलिए मैं बूढ़े बाप के पास इन्तखाब लेने चुंचुड़ा गया था। उसने कहा, मैं तुम्हें कुछ छोड़ देता हूँ, तुम लोग भी मुझे कुछ खाने को दो। उसके पास मैं शिकायत करने गया था, इसलिए यहाँ के अमीन ने मेरे ऊपर उलटा मुकदमा चलाकर मुझे तीन महीने की जेल की सजा दिलवायी थी। तब मैं तुम्हारी जमीन को सलाम करके दूसरे हलके में चला गया था।'

फिर भी उसकी भक्ति ऐसी गहरी थी कि एक दूसरे हलके का जमींदार हमारी कुछ जमीन चोरी से दबा कर उसका भोग कर रहा था,

जिसकी खबर वह यहाँ के सिरिस्ते में दे गया। यह मालूम हो जाने से नये जमींदार ने उसकी जमीन, धान समेत छीन ली है। उसने कहा—'जिसकी जमीन में मैं बुढ़ापे तक पाला-पोसा गया, उसकी भलाई की खबर मैं क्या उसके पास न पहुँचाऊँ?' यह कहकर उसने आँखों के दो-चार बूँद आँसू पोंछ डाले। वह कितनी सरलता से किसी तरह की चातुरी न करके मानो एक खबर पहुँचाने के विचार से सब कुछ बता गया, इससे उसके इस काम का यथार्थ महत्त्व समझ में आ जाता है। इन लोगों के प्रति मेरे मन में कितनी श्रद्धा रहती है, ये अपने से कितने अच्छे मालूम होते हैं, इसकी जानकारी इन्हें नहीं है। किन्तु, तो भी पेरिस की सभ्यता से ये कितने दूर हैं! वह इसकी अपेक्षा कितनी कठिन है, कितनी उज्ज्वल है, कितनी सुगठित है। तो भी यहाँ के मनुष्यों में जो चीज है, वह बहुत अनादर योग्य नहीं है। जब तक सभ्यता के बीच इस स्वच्छ सरलता की प्रतिष्ठा नहीं होती, तब तक सभ्यता कभी सम्पूर्ण और सुन्दर न होगी। सरलता ही मनुष्य के स्वास्थ्य का एक-मात्र उपाय है—वह मानो गङ्गा की तरह है, उसमें स्नान करने से संसार के अनेक ताप दूर हो जाते हैं। और यूरोप मानो समस्त तापों का लालन-पालन कर रहा है और इसके सिवा हजारों किस्म की माद-कता के कृत्रिम उत्ताप से अपने को दिन रात उत्तेजित कर रहा है। अखबारों के जो कटे टुकड़े मेरे पास आये हैं, उनमें से प्रत्येक में यही प्रमाण मिलता है।

●

६७

पतिसर

१६ फरवरी १८६६

जिस पार मैंने बोट लगाया है, वह खूब निर्जन है। गाँव नहीं है,

बस्तियाँ नहीं हैं, जोते हुए खेत चमक रहे हैं, नदी के किनारे-किनारे सूखी घास की तरह कुछ है—उसी घास को नोच-नोच कर कुछ भैंसे चर रहे हैं और हमारे दो हाथी भी हैं जो इस पार चरने के लिए आया करते हैं। उनको देखने से बहुत मजा मिलता है। एक पैर ऊपर उठा-कर घास की जड़ पर वह दो-चार बार ठोकर लगाता है, उसके बाद सूँड से खींचते ही घास के बड़े बड़े गुच्छे एक दम मिट्टी समेत निकल आते हैं, उन्हें सूँड़ से ऊपर उठाकर झुला झुलाकर वह झाड़ता है, उसकी मिट्टी झरझराकर गिर जाती है, उसके बाद मुँह में उसे डालकर वह खा जाता है। फिर कभी कभी उसकी इच्छा होती है तो थोड़ी सी धूल सूँड़ से उठाकर अपनी पीठ-पेट पर छिड़क देता है—इसी तरह है हाथी की प्रसाधन-क्रिया, बृहत् शरीर, विपुल बल, श्रीहीन आयतन, अत्यन्त निरीह। इस प्रकाण्ड जन्तु को देखना मुझे बहुत अच्छा लगता है। इसके इस प्रकाण्डत्व और भद्देपन के ही लिए मानो इसके प्रति एक तरह का विशेष स्नेह पैदा होता है। इसके समूचे शरीर का भद्दापन देखने से यह एक बहुत बड़ा बच्चा सा मालूम होता है। इसके सिवा यह जानवर बहुत ही उदार है—शिव भोलानाथ की तरह। जब बिगड़ता है तब खूब बिगड़ता है, जब ठंढा होता है तब अगाध शान्ति रहती है। उसके बड़प्पन के साथ साथ जो एक तरह का भद्दापन है वह हमारे हृदय को विमुख नहीं करता, बरन् आकर्षित करता है। हमारे घर में भयंकर जानवर का जो यह चित्र है, उसकी तुलना अनेक सुन्दर मुख से करें तो वह दर्शनीय भले ही न मालूम हो, जब मैं उसकी तरफ ताकने लगता हूँ तो वह मुझे अपनी तरफ खूब आकर्षित करता है। उस ऊबड़ खाबड़ माथे के अन्दर कितना बड़ा एक शब्द-हीन शब्द जगत् है, और कैसी एक [illegible] अशान्त क्लिष्ट प्रतिभा रुकी हुई आँधी की तरह उस जानवर में हरदम दिखाई पड़ती है!

पतिसर
२६ फरवरी १८९४

जब तब बादल छा रहे हैं, जब तब आकाश साफ हो जाता है, रह रह कर एकाएक हू हू करती हुई हवा आकर बोट की गाँठ गाँठ में विचित्र कें कें शब्दों से आर्तनाद उठा रही है। आज दोपहर का समय इसी तरह बीत रहा है।

इस समय दिन का एक बजा है। गाँव में दोपहर के समय बत्तखों की यह बोली, कपड़े कचारने की यह आवाज, नाव चलने से जल में होने वाली छल् छल् ध्वनि, दूर गायों के झुण्ड का उस पार उतरने के लिए हाँ हाँ आवाज और अपने मन के भीतर का एक उदास आलस्य-पूर्ण स्वगत संगीत-स्वर—इन सबकी कल्पना कलकत्ते की कुर्सी-टेबिल-परिपूर्ण, वर्ण वैचित्र्य-विहीन, नित्य नैमित्तिक कर्मों से नहीं की जा सकती। कलकत्ता बहुत ही भद्र और बहुत भारी है, गवर्नमेन्ट के आफिस की तरह। जीवन का प्रत्येक दिन, मानो एक ही आकार में एक ही छाप लेकर टकसाल से चमकता हुआ कट कटकर आ रहा है—नीरस मृत दिन, किन्तु खूब भद्र और समान वजन का। यहाँ मैं किसी दल में नहीं हूँ और यहाँ का प्रत्येक दिन मेरा अपना दिन है—नित्य नियमित चाभी लगाये हुए यन्त्र के साथ इसका कोई सम्पर्क नहीं है। अपने मन की भावनाओं और अपरूप अवसर को हाथ में लेकर मैं मैदान में टहलने जाता हूँ—समय अथवा स्थान के बीच कोई बाधा नहीं है। सन्ध्या, जल स्थल आकाश में बढ़ती आती है—मैं सिर झुकाये धीरे-धीरे टहलता रहता हूँ।

६६

पतिसर

शुक्रवार रात्रि । १७ मार्च १८६४

प्रति रात्रि को ही थोड़ी थोड़ी चाँदनी खिल जाती है। इसलिए आजकल सन्ध्या के बाद भी मैं बहुत देर तक बाहर टहलता रहता हूँ। नदी के इस पार के खेतों में कहीं भी कोई सीमा-चिह्न नहीं है, पेड़-पौधे नहीं हैं, जोते हुए खेतों में एक भी घास नहीं है, केवल नदी के किनारे कुछ घास है जो तेज धूप से सूखकर पीली हो गयी है। चाँदनी में यह शून्य मैदान देखने में बहुत ही अपूर्व मालूम होता है। समुद्र ऐसा ही असीम मालूम होता है, किन्तु उसमें एक अविश्राम गति और शब्द है—इस मिट्टी के समुद्र में कहीं भी कोई गति नहीं है, शब्द नहीं है, वैचित्र्य नहीं है, प्राण नहीं है—एक भारी उदास मृत-शून्यता है। चलने वालों में एक छोर पर मैं ही एक प्राणी चल रहा हूँ और मेरे पैरों के पास एक परछाईं चल रही है। बहुत दूर के खेतों में, किसी किसी जगह, जहाँ पिछली खड़ी फसलों की सूखी जड़ें कुछ बच गयी थीं, उनमें किसानों ने आग लगा दी है। जहाँ तहाँ उस आग की लपटों की कतार दिखाई पड़ रही है। एक प्रकाण्ड विस्तारित प्राणहीनता के साथ जब अस्पष्ट चाँदनी आ पड़ती है तब मानो एक विश्वव्यापी विच्छेद, शोक का भाव मन में आ जाता है, मानो एक मरुमय बृहत् कब्र के ऊपर सफेद कपड़ा पहने कोई स्त्री, मुँह ढककर औंधी हो मूर्छितप्राय निस्तब्ध पड़ी हुई है।

पतिसर
२४ मार्च १८६४

आज कल मेरे सन्ध्या-भ्रमण के एकमात्र साथी का अभाव हो गया है, वह और कोई नहीं है, हमारा शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा है। कल से उनसे मुलाकात ही नहीं होती। भारी असुविधा हो गयी है। शीघ्र ही अँधेरा छा जाता है, यथेष्ट टहलने के लिए कुछ बाधा पहुँचती है।

आजकल प्रभात में आँखें खोलते ही ठीक अपनी खुली खिड़की के सामने ही मुझे शुक्र तारा दिखाई पड़ता है—वह मुझे बहुत अच्छा लगता है। वह भी मेरी तरफ ताकता रहता है, मानो वह बहुत दिनों का अपना आदमी हो। मुझे याद है, जब सिलाईदह में कचहरी के काम-काज करने के बाद सन्ध्या को नाव से नदी पार करने लगता था, तो रोज आकाश में तारागणों को देख पाता था, तब मुझे बहुत कुछ सान्त्वना मिलती थी। ऐसा मालूम होता था कि मेरी यह नदी मानो मेरी घर-गृहस्थी है, और मेरी यह सन्ध्या-तारिका मेरे घर की लक्ष्मी है—मैं कब कचहरी से लौट पड़ूँ इसके लिए यह उज्वल सज धजकर बैठी हुई है। उससे मुझे बहुत ही स्नेह-स्पर्श मिलता था! तब नदी निस्तब्ध बनी रहती थी, हवा ठंडी रहती थी, कहीं कोई शब्द नहीं रहता था, मानो एक भारी घनिष्ठता के भाव से मेरा वह प्रशान्त संसार परिपूर्ण हो रहता था। सिलाईदह में प्रति सन्ध्या को निस्तब्ध अन्धकार में मैं जो नदी पार करता था वह खूब स्पष्टरूप से मुझे प्रायः ही याद पड़ता है। भोर में प्रथम दृष्टिपात के साथ ही शुक्रतारा को देखकर मैं उसे अपनी एक चिरपरिचित एकान्त सहचरी समझे बिना नहीं रह सकता। वह मानो एक चिरजाग्रत कल्याण-कामना की तरह, ठीक मेरे निद्रित मुख के ऊपर प्रफुल्ल स्नेह बरसाती रहती है।

आज टहलकर जब मैं बोट पर लौट आया तो मैंने देखा कि बत्ती के पास इतने अधिक पतिंगे जमा हो गये हैं कि टेबिल के पास बैठना असम्भव है। इसीलिए आज बत्ती बुझाकर बाहर आराम कुर्सी लेकर अँधेरे में बैठा था। आकाश की सभी नक्षत्र-मालाएँ अनन्त रहस्य की अन्तःपुरवासिनी स्त्रियों की तरह ऊपरी मञ्जिल के वातायन से मुझे देख रही थीं। मैं उनको जरा भी नहीं जानता और किसी समय जान सकूँगा या नहीं, यह भी मैं नहीं जानता—फिर भी उस ज्योतिर्मण्डली में विचित्र जीवन का अनन्त इतिहास प्रवाहित होता जा रहा है। आज सन्ध्या के समय मेरा चिट्ठी लिखना नहीं हुआ, इसीलिए इस समय लिख रहा हूँ। इस समय रात के ग्यारह बज चुके हैं, जब चिट्ठी पहुँचेगी तब दिन के प्रखर आलोक से जगत् खूब जागरूक, चञ्चल और तरह तरह के कामों में व्यस्त रहेगा। तब कहाँ रहेगी यह सुपुप्त निस्तब्ध रात्रि, कहाँ रहेगी अनन्त विश्वलोक की ज्योतिर्मय शब्दहीन वार्ता! इतना ज्यादा फर्क है कि किसी तरह ठीक भाव नहीं लाया जा सकता। मनुष्य के मन की शक्ति ऐसी साधारण है। जो बहुत ही परिचित है, आँखें बन्द करके उसकी आकृति की प्रत्येक रेखा मन में लाई नहीं जा सकती। एक समय जो चीज सर्व प्रधान रहती है, दूसरे समय उसको यथार्थ रूप से स्मृति में लाने में भी कठिनाई पड़ती है। हम दिन के समय रात को भूल जाते हैं, रात के समय दिन को भूल जाते हैं।

चन्द्रमा का प्रकाश धीरे-धीरे फैल रहा है। चारों तरफ बिलकुल निस्तब्धता है। केवल गाँव के दो कुत्ते उस पार से बोल रहे हैं। मेरे इस बोट में केवल एक बत्ती जल रही है, और सभी जगह बत्तियाँ बुझ गयी हैं। नदी में जरा भी गति नहीं है। इसी से मालूम होता है कि मछलियाँ रात को सो जाती हैं। जल के पास मैला हुआ गाँव है, और जल के पास गाँव की सोयी हुई छाया है।

पतिसर
२२ मार्च १८९४

ब........ने 'पशुप्रीति' शीर्षक एक निबन्ध मेरे पास लिख भेजा है। आज सबेरे पूरे समय तक मैं उसे ही पढ़ रहा था। कल मैं बोट पर बैठा हुआ खिड़की के बाहर नदी की तरफ ताक रहा था, उसी समय हठात् मैंने देखा कि कोई चिड़िया तैरती हुई तेजगति से उस पार की तरफ चली जा रही है और उसके पीछे बहुत जोरदार घर् घर् मर् मर् आवाज उठ रही है। अन्त में मुझे मालूम हुआ कि वह एक मुर्गी है। अपना मृत्युकाल आसन्न देखकर बावर्चीखाने की नाव से वह अचानक किसी तरह भाग निकली है और जल में कूदकर तैरती हुई उसपार भाग जाने की चेष्टा कर रही थी। ठीक उस पार किनारे पहुँच ही चुकी थी कि, उसी क्षण यमदूत मनुष्य झट उसका गला पकड़कर फिर एक नाव से उसे लौटा लाया। मैंने खटिक को बुलाकर कहा—मेरे लिए माँस न बनेगा। उसी समय ब........का 'पशुप्रीति' नामक निबन्ध मेरे पास आ गया। उसे पाकर मैं कुछ आश्चर्य में पड़ गया। मुझे तो अब माँस खाने में रुचि नहीं रहती। हमलोग कितना अन्यायपूर्ण निष्ठुर काम करते हैं उसपर हम विचार नहीं करते इसीलिए माँस खाते हैं। संसार में बहुत काम ऐसे हैं जिनकी दूषणीयता मनुष्य की बनायी हुई है। उनकी अच्छाई-बुराई, अभ्यास प्रथा, देशाचार लोकाचार, सामाजिक नियमों पर निर्भर करती हैं। किन्तु निष्ठुरता वैसी चीज नहीं, यह बिलकुल ही आदिम दोष है। इसमें कोई तर्क नहीं है, कोई द्विधा नहीं है। यदि हमारा हृदय निकम्मा न हो जाय, यदि हम हृदय को उसकी आँखें बाँधकर अन्धा न बना दें, तो हम निष्ठुरता के विरुद्ध निषेध एक दम स्पष्ट रूप से सुन सकेंगे। फिर भी उस काम को हम

लोग हँसते-खेलते खूब अनायास ही आनन्दपूर्वक करते रहते हैं, यहाँ तक कि जो नहीं करता उसे अद्भुत समझते हैं। पाप-पुण्य के सम्बन्ध में मनुष्यों में ऐसी ही एक कृत्रिम धारणा है। मुझे मालूम होता है सब धर्मों से श्रेष्ठ धर्म सब जीवों पर दया है। सभी धर्मों की मूल नींव है प्रेम। उस दिन एक अँग्रेजी अखबार में मैंने पढ़ा था कि इंगलैंड से पचास हजार पौण्ड माँस अफ्रीका के किसी सेना निवास को भेजा गया था। वह माँस खराब हो गया, इस कारण सैन्य-निवास के लोगों ने उसे लौटा दिया। उसके बाद वह माँस पोर्ट् समाउथ में पाँच-छः सौ रुपये में नीलाम हो गया! सोचकर देखो तो, जीवों के जीवन का कैसा शोचनीय अपव्यय हो रहा है और उसका कितना अल्प मूल्य है। हम जब कोई भोज देते हैं तब कितने प्राणी केवल छिद्रा पूर्ति के लिए आत्म-विसर्जन करते हैं। जब तक हम अचेतन रूप में रहते हैं और अचेतनरूप से हिंसा करते हैं तब तक हमें कोई दोष नहीं दे सकता। किन्तु जब मन में दया उत्पन्न होती है, तब यदि हम उस दया का गला दबा कर उसे मार डालें और दस आदमियों के साथ मिलकर हिंसा के भाव से काम करते रहें, तो उस हालत में वस्तुतः अपनी साधु प्रकृति को हम अपमानित करते हैं। मैंने सोच लिया है कि, फिर एक बार निरामिष भोजन शुरू करके देखूँगा।

निर्जनता के लिए मुझे एक प्रिय मित्र मिल गया है—मैं एक जगह से Amiel's Journal उधार माँग लाया हूँ। जभी समय मिलता है, उस पुस्तक को उलट पलट कर देखता हूँ। मुझे ठीक मालूम होता है कि उसके सामने-सामने बैठकर बात चीत कर रहा हूँ। ऐसा अन्तरङ्ग मित्र मुझे दूसरी बहुत कम पुस्तकों में मिला है। अनेक पुस्तकों में इससे अच्छी बातें लिखी हुई हैं और इस पुस्तक में अनेक दोष रह सकते हैं, किन्तु यह पुस्तक मेरे मन के लायक है। बहुत बार ऐसा समय आता है जब सभी पुस्तकें छू छूकर फेंक देता

पड़ती हैं, कोई भी ठीक आराम देने वाली नहीं मालूम होतीं—जैसे बीमारी के समय बहुधा बिछौने पर ठीक आराम की अवस्था नहीं मिलती, इधर-उधर करवटें बदल कर देखने की इच्छा होती है, कभी तकिये पर तकिया दबा देते हैं, कभी तकिया फेंक देते हैं— ऐसी मानसिक अवस्था में एमियेल का जो ही पन्ना खोलता हूँ, वहाँ ही मेरा माथा ठीक जा पड़ता है, शरीर ठीक विश्राम पाता है। मेरे उस अन्तरङ्ग मित्र एमियेल ने पशुओं के प्रति मनुष्यों की निष्ठुरता के सम्बन्ध में एक जगह लिखा है। ब....के लेख में मैंने वह पूरा अंश नोट रूप में जोड़ दिया है। कादम्बरी में जो मृगया वर्णन है, उसमें से बहुत अंश अनुवाद करने के लिए मैंने ब....को कह दिया है। पक्षी भी कुछ अंशों में हम लोगों की ही तरह हैं। एक जगह है, जहाँ उनमें हममें फर्क नहीं है, [illegible] अपनी करुण कल्पना-शक्ति से अनुभव किया है [illegible]।

१०२

पतिसर
२८ मार्च १८९४

इधर कई दिनों से गरमी भी बहुत अधिक पड़ी है, किन्तु धूप की गरमी को मैं बहुत [illegible] नहीं करता। गरम हवा, धूल बालू, फूस, खर-कतवार उड़ाती हुई हू-हू शब्द करती हुई बह रही है। कहीं-कहीं अब [illegible] बवंडर उठ जाते हैं। सूखी पत्तियाँ, [illegible] घूमकर नाच नाचकर अदृश्य हो जाती हैं। [illegible] उठता है। नदी के किनारे बगीचे में पक्षी बहुत ही मीठे स्वर से गा रहे हैं, मालूम होता है कि ठीक बसन्त ही आ गया है। आज सबेरे एकाएक खूब ठंडक पड़ गयी थी। यहाँ तक कि मानो जाड़े का मौसम

मालूम हो रहा था। स्नान करते समय मन में खूब प्रबल उत्साह नहीं था। प्रकृति के इस बृहत् लीला-व्यापार में कब क्या हो जाता है उसका हिसाब मिलना कठिन है, उसके किसी अज्ञात कोने में अचानक ही कोई घटना हो जाती है और उसके फलस्वरूप अकस्मात् चारों तरफ का वातावरण बदल जाता है। मैं कल सोच रहा था, मनुष्य का मन भी ठीक उस विशाल प्रकृति की तरह रहस्यमय है। चारों तरफ शिरा, उपशिरा, स्नायु, मस्तिष्क, मज्जा के भीतर लगातार एक नहर का इन्द्र-जाल चल रहा है, हु-हु शब्दों के साथ रक्त-स्रोत बह रहा है, स्नायु काँप रहा है हृत्पिण्ड धड़क रहा है, और रहस्यमयी मानव प्रकृति में ऋतु-परिवर्तन हो रहा है। कहाँ से किस समय कैसी हवा आ जाती है इसकी कुछ भी जानकारी नहीं है। आज मेरे मन में यह विचार उठता है कि अपने इस जीवन को अच्छी तरह चला सकूँगा ? शरीर में बल यथेष्ट है, संसार के दुःखों को, यन्त्रणाओं को बिलकुल ही लाँघ जाऊँगा ? यही सोचकर मैंने अपने समस्त जीवन का प्रोग्राम छपवा लिया है, और मजबूती से बँधवाकर पाकेट में रख निश्चिन्त हो गया हूँ। फिर कल ऐसा मालूम होता है कि किसी अज्ञात रसातल से कोई दूसरी ही हवा बह चली है, आकाश का रुख पूरा बदल गया है। तब ऐसा मालूम नहीं होता कि यह आफत किसी दिन भी मैं टाल सकूँगा। इन सबकी उत्पत्ति किस जगह है, किसी शिरा में, स्नायु में कोई विशृङ्खला उत्पन्न हो गयी है, बीच में पड़कर मैं अपनी समस्त बल-बुद्धि के सहारे अब अपने को सम्हाल नहीं सकता। अपने भीतर के इस अपार रहस्य की बात याद करने से भारी भय होता है। मैं क्या कर सकूँगा, क्या न कर सकूँगा, कुछ भी दृढ़तापूर्वक कह नहीं सकता। सोचने लगता हूँ कि कुछ भी जानकारी न रहते हुए भी मैं यह कैसा बड़ा भारी बोझ सिर पर लादे घूमता रहता हूँ, इसे तो मैं सम्हाल नहीं सकता, और भी किसी तरह इसके हाथ से बच भी नहीं सकता। मैं नहीं जानता कि यह मुझे

कहाँ ले जायगा, मैं भी इसे कहाँ ले जाऊँगा—मेरे माथे पर यह भयङ्कर रहस्य थोप देने की जरूरत क्या थी। हृदय में क्या होता है, शिराओं में क्या हो रहा है, मस्तिष्क में क्या हो रहा है, कितनी असंख्य घटनाएँ मुझे लगातार घेरती जा रही हैं—मैं देख भी नहीं सकता। कोई मुझसे परामर्श भी नहीं करता। तो भी सबको लेकर मैं खड़ा हूँ और अपने को कर्ता समझकर सोच रहा हूँ कि मैं भी एक मैं हूँ। तुम तो बड़े तुम हो—तुम अपने को कितना जानते हो इसका कोई ठीक नहीं है। मैंने तो बहुत सोच विचार कर यही ठीक समझ लिया है, कि मैं अपने को कुछ भी नहीं जानता। मैं एक सजीव पियानो यन्त्र की तरह हूँ। भीतर अन्धकार में बहुत से तार और कल-पुर्जे हैं। कब कौन आकर बजाने लगता है, कुछ भी मैं नहीं जानता। क्यों बजाता है यह भी पूरा समझना कठिन है। केवल क्या बजता है यही मैं जानता हूँ—सुख बजता है कि व्यथा बजती है, तीव्र बजता है कि कोमल बजता है, ताल से बजता है कि बेताल बजता है, यही समझ सकता हूँ।

●

१०३

पतिसर
३० मार्च १८९४

मनुष्य के भाग्य में कितनी ही अकारण आशङ्काएँ रहती हैं और कष्ट भी रहते हैं। छोटे-बड़े कितने हजार विषयों पर हमारे मन की सुख-शान्ति निर्भर करती है। बहुत से दुःख ऐसे हैं, जिनकी रचना हम खुद करते हैं। उन्हें निश्चयपूर्वक [illegible] है। किन्तु चिट्ठी न मिलने से जब यह आशङ्का उत्पन्न हो जाती है कि कोई [illegible] या बीमारी में [illegible] होगा, तब उस कष्ट को शान्त करने के लिए अपने पास कोई फिलासफी ही नहीं मिलती।

तब बुद्धि भी एकदम निकम्मी हो जाती है, कोई काम नहीं कर सकती। कल जब तक मैं टहलता रहा, तब तक ऐसी असम्भव और असङ्गत कल्पनाएँ मन में उठ रही थीं, बुद्धि उनका कोई प्रतिवाद नहीं कर रही थी। आज उनकी याद आने से हँसी भी आ रही है, लज्जा भी मालूम हो रही है—फिर भी निश्चित रूप से मैं यह जानता हूँ कि दूसरे दिन जब ऐसी घटना होगी तो फिर ऐसे ही मनोभावों की पुनरावृत्ति होगी। मैं अनेक बार कह चुका हूँ, बुद्धि मनुष्य की अपनी खास चीज नहीं है, अभी तक वह हमारे मन में स्वाभाविक अवस्था को नहीं पहुँची है।

जब मैं सोचने लगता हूँ कि जीवन का पथ बहुत लम्बा है, दुःख कष्टों के कारण असंख्य हैं और अवश्यम्भावी हैं, तब कभी-कभी अपने मनोबल की रक्षा करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। बहुधा सन्ध्या के समय अकेले बैठा-बैठा टेबिल की बत्ती की तरफ दृष्टि निबद्ध करके मैं सोचने लगता हूँ कि इस जीवन को वीर की तरह अविचलित भाव से, कोई अभियोग लगाये बिना वहन न करूँगा। ऐसी कल्पना से थोड़ी देर के लिए मन बहुत प्रबल हो जाता है और तब मैं भ्रमवश अपने को एक बहुत बड़ा वीर पुरुष समझने लगता हूँ। उसके बाद राह में चलते समय ज्योंही पैरों में कुश का काँटा चुभ जाता है त्योंही दुःख से कूद पड़ता हूँ और तब फिर भविष्य के अपने सम्बन्ध में भारी सन्देह उपस्थित हो जाता है। तब फिर अपने इस जीवन को बहुत लम्बा और अपने को पूर्ण अयोग्य समझने लगता हूँ। किन्तु यह युक्ति शायद ठीक नहीं है। वास्तव में, शायद कुश का काँटा ज्यादा कष्ट पैदा करता है। मन के भीतर एक सुशासित गृहिणीपन दिखाई पड़ता है—वह आवश्यकतानुसार व्यय करता है, मामूली कारण से बल का अपव्यय नहीं करना चाहता। वह मानो बड़े-बड़े संकटों और आत्मत्याग के लिए अपना समस्त बल कृपण की तरह संचय कर रखता है। छोटी-छोटी वेदनाओं में हजार रोना-धोना मचाने पर भी उसकी नियमित सहायता नहीं

मिलती। किन्तु जब भारी दुःख आ जाता है, तब उसको आलस्य नहीं रहता। इसीलिए जीवन में एक विरोधाभास प्रायः दिखाई पड़ता है कि बड़े दुःख की अपेक्षा मानो छोटा दुःख अधिक कष्टदायक होता है। इसका कारण यह है कि बड़े दुःख से हृदय का जो अंश विदीर्ण हो जाता है, उसी जगह से एक सान्त्वना का सोता निकलने लगता है। मन अपने पूरे बल के साथ, समस्त धैर्य के साथ, मिल-जुलकर अपना काम करने लगता है। तब दुःख के माहात्म्य से ही उसकी सहनशक्ति बढ़ जाती है। मनुष्य के हृदय में एक तरफ जिस तरह सुख पाने की इच्छा रहती है, उसी तरह दूसरी तरफ आत्मत्याग की इच्छा बलिष्ठ हो जाती है और उस इच्छा की चरितार्थता साधन करने का अवसर पाकर मन के अन्दर एक उदार उत्साह का सञ्चार होता है। छोटे दुःख के सामने हम कायर हैं किन्तु बड़ा दुःख हमें वीर बना देता है, हमारे यथार्थ मनुष्यत्व को जाग्रत कर देता है। उसके अन्दर एक सुख है। 'दुःख में भी सुख' नामक एक कहावत बहुत दिनों से प्रचलित है; वह बिलकुल मनगढ़न्त बात नहीं है—और सुख में भी एक तरह का असन्तोष होता है, यह भी सच है। इसका अर्थ बहुत कठिन नहीं है। जब हम केवल सुख भोगते रहते हैं तब हमारा आधा मन अकृतार्थ रहता है, तब किसी एक बात के लिए दुःख, भोग और त्याग स्वीकार करने की इच्छा होता है, नहीं तो हम अपने को अयोग्य समझने लगते हैं। इसी कारण जिस सुख के साथ दुःख मिला रहता है, वही सुख स्थायी और सुगम्भीर है, उससे ही हमारी समस्त प्रकृति की यथार्थ चरितार्थता सम्पन्न होती है।—किन्तु सुख-दुःख की फिलासफी क्रमशः बढ़ती जा रही है।

खिलाईदह
२४ जून १८९४

मुझे यहाँ आये अभी केवल चार ही दिन हुए हैं, किन्तु मालूम होता है कि कितने दिनों से हूँ इसका ठिकाना ही नहीं है। खयाल उठ रहा है कि यदि आज ही मैं कलकत्ता चला जाऊँ तो अनेक विषयों में अनेक परिवर्तन देख सकूँगा।

केवल मैं ही समय-स्रोत के बाहर एक स्थान पर स्थिर टिका हुआ हूँ; मेरे सिवा और सारा जगत् मेरी गैरजानकारी में कुछ-कुछ स्थान परिवर्तन कर रहा है। वास्तव में; जब मैं कलकत्ते से यहाँ आ जाता हूँ, तब समय चार गुना बड़ा हो जाता है; केवल अपने मनोराज्य में रहना पड़ता है, वहाँ घड़ी ठीक नहीं चलती। भावों की तीव्रता के अनुसार मानसिक समय का परिमाप होता है; कोई-कोई क्षणिक सुख, दुःख मालूम होता है मानो बहुत समय से भोग कर रहा हूँ। जहाँ बाहर का लोक-प्रवाह और बाहर की घटना तथा दैनिक कार्य परम्पराएँ हमें सर्वदा समय की गणना करने में नियुक्त नहीं रखतीं, वहाँ सपने की तरह, छोटा मुहूर्त, दीर्घकाल में और दीर्घकाल छोटे मुहूर्त में सदा ही परिवर्तित होता रहता है। इसीलिए मुझे मालूम होता है कि खण्डकाल और खण्ड आकाश हमारे मन का भ्रम है। प्रत्येक परमाणु असीम है और प्रत्येक मुहूर्त ही अनन्त है। इस सम्बन्ध में पारस्य उपन्यास में अपने खूब बचपन में मैंने एक कहानी पढ़ी थी, वह मुझे बहुत अच्छी लगी थी और यद्यपि उस समय मैं बहुत छोटा था, तो भी उसका मर्म भाव में एक तरह से समझ गया था। काल का परिमाण वास्तव में कुछ भी नहीं है, यही दिखाने के लिए एक फकीर ने एक टब में [illegible] जल रखकर बादशाह से कहा—'तुम इसमें डुबकी लगा कर स्नान करो।'

बादशाह ने डुबकी लगाने के साथ ही देखा कि वह एक समुद्र के किनारे नये देश में पहुँच गया है। वहाँ उसने अपने जीवन का दीर्घ समय बिताया, तरह-तरह की घटनाओं और तरह-तरह की अवस्थाओं में पड़कर विभिन्न सुख-दुःख भोगता रहा। वहाँ उसका विवाह हुआ, एक-एक करके बहुत से लड़के पैदा हुए, लड़के मर गये, स्त्री मर गयी, रुपये पैसे सब नष्ट हो गये। और उसी शोक में जब वह एकदम अधीर हो उठा, तब हठात् उसने देखा कि वह अपनी राजसभा में, जल के टब में है। वह फकीर पर बहुत ही बिगड़ उठा। उसका क्रोध देखकर सभी सभासदों ने कहा—'महाराज आपने तो जल में डुबकी लगाकर अभी तुरन्त ही अपना सिर ऊपर उठाया है।' हम लोगों का समस्त जीवन और जीवन के सब दुःख एक मुहूर्त्त में आबद्ध है। हम लोग उसे जितना ही सुदीर्घ और जितना ही सुतीव्र क्यों न समझते रहें, परन्तु ज्योंही हम संसार के टब से अपना सिर ऊपर उठायेंगे त्योंही सब कुछ मुहूर्त्तकाल के स्वप्न की तरह छोटा हो जायगा। काल छोटा-बड़ा कुछ भी नहीं है, हम लोग ही छोटे-बड़े हैं।'

कल दिन का समय बहुत अच्छा बीता, इस नदी की जल-रेखा, बालू की रेती, पार के बादलों और धूप का खेल, बारबार लगातार चल रहा था—खुली खिड़की के भीतर से जिधर ही नजर पड़ रही थी, बहुत ही सुन्दर दृश्य दिखाई पड़ रहा था। किसी भी सुन्दर वस्तु को 'स्वप्न की तरह' क्यों कहते हैं यह मैं ठीक नहीं जानता, सम्भवतः केवल सौन्दर्य को ही व्यक्त करने के लिए। अर्थात्, उसके भीतर मानो Reality का भार मात्र भी नहीं है। अर्थात् इस शरीर के आहार के लिए अन्न संग्रह करना पड़ता है, इस नदी से पार की नाव ले जाने का रास्ता है, यह रेती जमींदार से लगान का बन्दोबस्त करके काम में लायी जाती है, इत्यादि शतसहस्र बातें मन से दूर हटाकर जब हम केवल क्रियाहीन विशुद्ध आनन्दमय सौन्दर्य का दृश्य उपभोग करते

हैं, तब हम उसे 'स्वप्न की तरह' कहते हैं। दूसरे समय हम जगत् को मुख्यतः सत्य के रूप में देखते हैं, उसके बाद हम लोग उसे सुन्दर अथवा दूसरे रूप में जानते हैं। किन्तु जिस समय उसे हम लोग मुख्यतः सुन्दर रूप में देखते हैं, उसके बाद वह सत्य हो, या न हो, इस पर हम लक्ष्य नहीं करते, तब हम उसे कहते हैं 'स्वप्न की तरह।'

१०५

सिलाईदह
२६ जून १८९४

आज सवेरे बिछौने से उठते ही मैंने देखा कि, धूसर बादलों के भार से आकाश अन्धकारपूर्ण हो गया है और झुका हुआ है, बादलों से भीगी हवा बह रही है, टिप् टिप् लगातार वर्षा हो रही है, नदी में नावें बहुत नहीं हैं, किसान लोग टाट ओढ़े हाथ में हँसिया लिये नाव से नदी पार कर रहे हैं, खेत में गायें चर रही हैं, एकमात्र गाँव की स्नानार्थिनी जनवन्धुओं की भीड़ नहीं है। अन्य दिन अब तक मैं उनके ऊँचे कण्ठ की कलध्वनि इस पार से सुन पाता था, आज उनकी वह मधुर ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती और पक्षियों का गाना भी बन्द है। जिस तरफ से वर्षा की बौछार आने की सम्भावना थी, उस तरफ की खिड़की खोलकर मैं अब तक काम की आशा में बैठा हुआ था। अन्त में धीरे-धीरे मुझे यह धारणा हो रही है कि, आज इस बदली वाले दिन में कर्मचारी लोग घर से न निकलेंगे। हाय, मैं भी श्याम नहीं हूँ, ये लोग भी राधिका नहीं हैं। वर्षाभिसार का ऐसा सुअवसर बेकार मैदान में नष्ट हो गया। इसके सिवा, यदि मैं बंशी बजाता और चाँद देखने को जरा भी सुयोग रहता, तो इस हालत में वृषभानु नन्दिनी विशेष 'हर्षिता' नहीं होतीं। जो भी हो, जब कि वर्तमान अवस्था में राधिका

भी नहीं आ रही हैं, कर्मचारी लोगों की भी वैसी ही दशा है, और मेरी muse भी सम्प्रति मुझे त्यागकर अपने पित्रालय चली गयी हैं, तब बैठे बैठे चिट्ठी तो लिखी जा सकती है। असल बात यह है कि, अब तक कोई काम न रहने के कारण, मैं नदी की तरफ ताकता हुआ गुन-गुन स्वर से भैरवी, टोड़ी, रामकेलि मिलाकर एक प्रभाती रागिनी बना अपने मन से अलाप रहा था। उससे अकस्मात् मन के अन्दर एक ऐसी सुतीव्र, साथ ही मधुर चञ्चलता जाग उठी। एक अनिर्वचनीय भाव का आवेग उपस्थित हो गया, एक ही क्षण में मेरा यह वास्तविक जगत् आदि से अन्त तक इस तरह मूर्ति परिवर्तन कर दिखाई पड़ा, अपने अस्तित्व की सभी कठिन समस्याओं का एक ऐसा संगीतमय, भावमय, फिर भी भाषाहीन, अर्थहीन, अनिश्चित समाधान मेरे कानों में गीत सरीखा सुनाई पड़ने लगा, और उस गीत के सुर के साथ ही नदी के जल के ऊपर वर्षा का जल गिरने का मधुर शब्द लगातार ध्वनित होने से एक तरह का आनन्द संचारित होने लगा, संसार के एक छोर पर पड़े हुए इस सङ्गीहीन एकमात्र प्राणी को घेर कर आसाढ़ के अद्भुत जल रखने वाले घनघोर श्यामल बादलों की तरह 'सुखमिति दुःखमिति वा' यह भाव इस तरह एक के बाद एक करके जमा हो गया कि, मुझे हठात् एक समय यह कह देना पड़ा—रहने दो, अब कोई जरूरत नहीं, अब Criticism on Contemporary Thought and Thinkers पढ़ने में मन लगा देना चाहिये।

१०६

सिलाईदह
२७ जून १८९४

कल से हठात् मेरे मस्तिष्क में एक गम्भीर विचार समा गया है।

मैंने विचार करके देख लिया कि संसार का उपकार करने की इच्छा रहने पर भी इस कार्य में सफलता नहीं मिलती; किन्तु इसके बदले में यदि जिस काम को मैं कर सकता हूँ वही कर डालूँ तो उसी से संसार के लोगों की भलाई होगी, कम से कम कुछ न कुछ काम तो सम्पन्न हो ही जायगा। आजकल यह खयाल उठ रहा है कि, यदि और कुछ न करके छोटी छोटी कहानियाँ लिखने लगूँ तो मैं कुछ मानसिक सुख में रह सकूँगा। यदि इस कार्य में सफल हो जाऊँगा तो सम्भव है पाठकों को भी मानसिक सुख प्राप्त हो। कहानी लिखने का एक सुख यह भी है कि, जिनकी बातें मैं लिखूँगा, वे मेरे दिन रात के सभी अवसरों को एकदम भर रखेंगे, मेरे अकेले मन के साथी बनेंगे, वर्षा के समय मेरे बन्द कमरे की संकीर्णता दूर करेंगे, और धूप के समय पद्मा तट के उज्ज्वल दृश्य के साथ मेरी आँखों के सामने घूमते-फिरते रहेंगे। इन्हीं विचारों के अनुसार आज प्रातःकाल मैं 'गिरि बाला' नामक उज्ज्वल साँवली छोटी सी अभिमानिनी लड़की को अपने कल्पना-राज्य में ले आया। अभी केवल पाँच ही लाइन लिख पाया था और उन पाँच लाइनों में केवल यही बात लिखी गयी थी कि, कल वर्षा हुई, आज वर्षा हो जाने के बाद चंचल बादल और चंचल धूप परस्पर शिकार खेल रहे हैं—ऐसे समय में उक्त गिरि बाला का उस ग्रामपथ से आना उचित था, जिसमें पिछली वर्षा का जमा हुआ जल पेड़ों से बूँद बूँद टपकता हुआ नीचे गिर रहा था; किन्तु ऐसी बात नहीं हुई, मेरे बोट में हमारे कर्मचारियों का समागम हो गया। इस कारण थोड़ी देर के लिए गिरीबाला की प्रतीक्षा छोड़ देनी पड़ी। ऐसा होने पर भी, वह मेरे मन में विद्यमान है। दिन बिताने के लिये आज एक दूसरे उपाय की जाँच की गयी है। आज बैठे बैठे मैं पुरानी स्मृतियों और उस समय का अपना मनोभाव बहुत ही स्पष्ट रूप से याद करने की चेष्टा कर रहा था। जब मैं पेनेटी के बाग में था, तब उपनयन का

मुण्डित माथा लिये बोलपुर के बगीचे में गया था, जब पश्चिम तरफ के बरामदे के आखिरी कमरे में हमारा स्कूल चल रहा था और मैं एक नीले कागज की फटी हुई कापी पर टेढ़ी लाइनें खींचकर बड़े बड़े कच्चे अक्षरों में प्रकृति का वर्णन लिखा करता था, जब रसोई घर में जाड़े के दिनों में प्रातःकाल चिन्ता नामक एक नौकर गुनगुनाता हुआ मधुर स्वर से गाना गाते गाते मक्खन लगाकर रोटियाँ सेका करता था—तब हमारे शरीर पर गरम कपड़े नहीं थे, एक कमीज पहन उस आग के पास बैठकर जाड़े से बचता था और उन कोमल माखन-मिश्रित सुगन्धयुक्त रोटियों पर लोलुप दृष्टि डाल चुपचाप बैठ चिन्ता का गाना सुना करता था। उन सभी पुराने दिनों को वर्तमान के रूप में ढालकर मैं देख रहा था और उन सभी दिनों के साथ यह धूप से चमकती हुई पद्मा नदी और इसकी रेती, बहुत ही सुन्दरता के साथ मिश्रित हो रही थी। मालूम हो रहा था मानो मैं उसी बाल्यकाल में हूँ और उस समय की खुली खिड़की के पास बैठा हुआ इस पद्मा का एक दृश्य देख रहा हूँ। उसके बाद मैंने सोचा कि, मैं और कोई सामग्री न लेकर भी केवल कहानियाँ लिख कर और वर्तमान को पिछले बहुत दिनों के समय के साथ मिलाकर अपने को सुखी बना सकता हूँ। उसके बाद ही विचार उठा—Nothing Succeeds lilke Success. रुपया रुपये को ला देता है; वैसे ही सुख भी सुख को ला देता है। सुख के दिनों में ही हम सोचने लगते हैं कि, हम में सुखी होने की असीम शक्ति है। उसके बाद दुःख के दिनों में हम देख पाते हैं कि हमारी कोई शक्ति कोई काम नहीं कर रही है, सभी कल-पुर्जे एक दम बिगड़ गये हैं। कल शायद थोड़ा कुछ सुख का आभास मन के अन्दर धीरे-धीरे जाग रहा था, इसीलिए सभी कल पुर्जों ने ठीक तौर से चलना शुरू कर दिया था, जीवन की अतीत स्मृतियाँ और प्रकृति की वर्तमान शोभा एक ही साथ सजीव हो उठी थी—इसी कारण आज सबेरे जाग उठने

के साथ ही मुझे जान पड़ा कि, मैं कवि हूँ। हममें जितना ही कवित्व क्यों न रहे, हम अपनी शक्ति का जितना ही गर्व क्यों न करें, मनुष्य बहुत ही पराधीन है। ये कंगाल प्राणी लम्बे आकार में उठते हैं, खड़े होते हैं, दुबले होकर घूमते-फिरते हैं, पूरा स्वर्ग पाना चाहते हैं, उसके बाद टुकड़ा टुकड़ा जो कुछ पा जाते हैं उसी से भूख मिटाने की चेष्टा करते हैं। अन्त में भीख के लिए फैलाया हुआ हाथ, ऊपर को उठता हुआ शरीर धूल में लोट-पोट होने लगता है और लोग मृत्यु को ही स्वर्ग प्राप्ति कह कर प्रचार करते हैं। जितने सुख से जीवन के सभी कल-पुर्जे चल सकते हैं, उतने ही सुख को यदि चिरकाल पकड़ रक्खा जाय तो उस हालत में सभी शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं, और सभी काम सम्पन्न किया जा सकता है। आज गिरिबाला बिना बुलाये आ पहुँची हैं, कल बहुत ही जरूरत के समय उनकी झूलती हुई बेणी का सूक्ष्मग्र भाग तक भी न दिखाई पड़ेगा। किन्तु उस बात को लेकर आन्दोलन करने की आवश्यकता नहीं है। श्रीमती गिरिबाला के तिरोधान की सम्भावना रहे तो भले ही रहे, आज जब उनका शुभागमन हो गया है तब यह आनन्द का विषय है इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

इसबार जो चिट्ठी मिली है उससे यह जानकारी हो गई कि, मेरे घर में जो सर्वापेक्षा छोटा बच्चा है, उसने होठों को फुलाकर अभिमान करना सीख लिया है। मैं उस चित्र को अच्छी तरह देख रहा हूँ। उसकी उन नरम मुट्ठियों के स्पर्श के निमित्त मेरा मुँह, मेरी नाक लुभायी हो उठी है। वह जहाँ तहाँ मुझे हाथों से पकड़कर सिर हिलाता हुआ मुँह बाये मुझे काटने जाने के लिए धावा करता था और अपनी छोटी-अंगुलियों से मेरे चश्मे को खोल। एकाएक गम्भीर निश्चित भाव से गाल फुलाये ताकता रहता था, वे सभी बातें मुझे याद पड़ रही हैं।

सिलाईदह

३० जून १८९४

मेरी यह छोटी सी निर्जनता मेरे मन के कारखाने की तरह है। उसके तरह तरह के कल-पुर्जे और पूरे-अधूरे काम काज चारों तरफ बिखरे पड़े हैं—जब कोई बाहर से आ जाता है तब उनपर उनकी नजर नहीं पड़ती—किस समय कहाँ कदम डाल देते हैं इसका कोई ठिकाना नहीं है। वे बहुत ही नासमझी से हँसते हुए संसार की खबरों की आलोचना करते करते मेरे करघे पर, ताने हुए बड़ी साधना के बारीक सूतों को पटापट तोड़ते रहते हैं। जब उनको बिदा करने के लिए स्टेशन ले जाता हूँ और गाड़ी पर चढ़ाकर फिर अकेले अपने कारखाने में लौट आता हूँ तब मैं देख पाता हूँ कि मेरा कितना नुकसान हो गया है। बहुत सी बातें, बहुत से काम, अनेक आलोचनाएँ ऐसी होती हैं, जो दूसरों के लिए साधारण हैं और जनता में स्वाभाविक हैं, किन्तु निर्जन जीवन के लिए आघातजनक हैं क्योंकि, निर्जनता में हमारे सभी छिपे हुए अंश बाहर चले आते हैं, इस हेतु उस समय मनुष्य बहुत अधिक अपनी ही तरह अर्थात् कुछ दुनिया में निकम्मा सरीखा हो जाता है। उस अवस्था में वह जनसंघ के लिए अनुपयुक्त हो जाता है। बाह्य प्रकृति का एक गुण यह है कि वह आगे बढ़कर मन के साथ कोई विरोध नहीं करती, उसको अपना मन बहलाने वाला कोई थला नहीं है, इसलिए मनुष्य के मन के लिए वह अपनी पूरी जगह छोड़ देने को राजी है। वह सर्वदा सब प्रदान करती है किन्तु दाम की वसूली नहीं करती, यह अनन्त आकाश पर अधिकार जमाये रहती है, तो भी वह मेरी तिलभर जगह भी नहीं छेंकती। नासमझ की तरह बकवाद नहीं करती, समझदार की तरह तर्क नहीं करती; छोटी बच्ची की तरह वह

आकाश की गोद में लेटी रहती है—जब वह शान्त भाव से रहती है तब भी वह अच्छी लगती है, जब गरजती हुई हाथ-पैर पटकती रहती है, तब भी उसका वह काम अच्छा लगता है। विशेषतः जब कि उसके खान-पान, वेष-परिवर्तन की व्यवस्था करने का भार मेरे ऊपर जरा भी नहीं है, तब वह भाषाहीन, मनोहीन, अत्यन्त सुन्दर बच्ची मेरी निर्जनता के लिए अच्छी है। भाषा में अत्यन्त परिपूर्ण, बुद्धिमान्, बड़ी उम्र के मनुष्य उन्हीं घरों के लिए उपयुक्त हैं जिनमें बहुत लोगों का वास है।



१०८

शाहजादपुर का रास्ता
७ जुलाई १८९४

शाम को पबना शहर के एक घाट पर बोट लगाया गया। उस पार कुछ लोग तबला बजाकर गाना गा रहे थे, एक मिली-जुली ध्वनि सुनाई पड़ रही थी। रास्ते से स्त्री-पुरुष आ-जा रहे थे, वे बहुत ही व्यस्त मालूम होते थे। पेड़-पौधों के बीच से दीपकों से प्रकाशित पक्के मकान दिखाई पड़ रहे थे। घाट पर तरह-तरह के लोगों की भीड़ लगी थी। आकाश में एक घना रङ्ग वाला बादल छाया हुआ था, सन्ध्या भी अँधेरी हो चली थी। उस पार कतारों में खड़ी महाजनी नावों पर बत्तियाँ जल उठीं, मन्दिर में पूजा-आरती के घड़ी-घण्टे बजने लगे—बत्ती बुझाकर मैं बोट की खिड़की के पास बैठ गया। मेरे मन में एक भारी अपूर्व आवेश आ पहुँचा। अन्धकार के आवरण के नीचे से मानो इन लोकालयों का सजीव हृत्-स्पन्दन मेरी छाती पर आघात करने लगा। इस बादल से भरे आकाश के नीचे, अँधेरी सन्ध्या में, कितने मनुष्य हैं, उनकी कितनी इच्छाएँ हैं, कितने काम-धन्धे हैं, कितने मकान हैं, मकानों में जीवन के कितने रहस्य हैं, कितने सङ्कट मनुष्यों में हैं,

कितने घात-प्रतिघात हैं। विशाल जनता के सभी भले-बुरे कर्म, सभी सुख-दुःख एक में मिलकर, वृक्ष-लताओं से घिरी छोटी-सी बरसाती नदी के दोनों तटों से एक करुणोत्पादक सुन्दर सुगम्भीर रागिनी की तरह मेरे हृदय में प्रवेश करने लगे। अपनी 'शैशवसन्ध्या' शीर्षक कविता में सम्भवतः कुछ ऐसा ही भाव मैंने व्यक्त करना चाहा था। बात संक्षेप में यह है कि मनुष्य छोटा है, क्षणस्थायी है, फिर भी भले-बुरे और सुख-दुःख परिपूर्ण जीवन का प्रवाह उस पुरातन सुगम्भीर मीठे स्वर में सदा से चल रहा है और चलता रहेगा—नगर के छोर पर सन्ध्या की अँधियार में वही चिरन्तन मीठी ध्वनि सुनाई पड़ रही है। मनुष्य के दैनिक जीवन की क्षणिकता और स्वतन्त्रता इस अविच्छिन्न सुर में मिलती जा रही है। सब मिलाकर एक विस्तृत आदि-अन्तशून्य, प्रश्नोत्तर-विहीन महासमुद्र के लगातार शब्द की तरह कोई चीज हृदय की निस्तब्धता में प्रवेश कर रही है। किसी-किसी समय, पता नहीं कहाँ के किस छेद से संसार के बड़े-बड़े प्रवाह हृदय में मार्ग पा जाते हैं—उसकी जो एक ध्वनि सुनाई पड़ती है, उसका वर्णन शब्दों से नहीं किया जा सकता।

●

१०६

शाहजाद पुर का रास्ता
७ जुलाई १८६४

भाग्यदोष से यह उपन्यास बिलकुल ही अपाठ्य है। पहला शुरू कर दिया था, केवल इसी कारण जी-जान से पूरा पढ़ गया। आरम्भ कर देने से ही उसको समाप्त कर देना चाहिये, इस कर्तव्यबोध का अर्थ समझना कठिन है। कहा जाता है कि हमारी जितनी मनोवृत्तियाँ हैं उन सभी में अहङ्कार मौजूद है। उनमें से कोई भी यह स्वीकार करने

को राजी नहीं हैं कि हम लोग साधारण और क्षणस्थायी बाधा से ही परास्त हो जाते हैं। इसीलिए वे बहुधा अपने को सचेष्ट होकर जागरूक रखती हैं। हमारी इच्छा-शक्ति में भी एक गर्व मौजूद है। वह जब किसी काम को हाथ में लेकर शुरू कर देती है, तो उस आरम्भ करने के ही कारण अपनी प्रतिकूल स्थिति में भी उसे पूरा कर देना चाहती है। इसी तरह के निरर्थक अहङ्कार में पड़ जाने के कारण एक फजूल बातों से पूर्ण असम्बद्ध बड़े ग्रन्थ को मैंने निर्जन कमरे में, बरसाती दिनों में बैठा हुआ पूरा पढ़ डाला। खतम कर देने के बड़े सुख के सिवा और कोई सुझे नहीं मिला।



११०

शाहजादपुर
१० जुलाई १८६४

अच्छी तरह विचार करके देखने से मुझे हँसी आती है कि दो आदमियों में परस्पर अत्यन्त घनिष्ठता रहने पर भी वे इस जीवन में किस हद तक आपस में असम्बद्ध हैं। जिसको दस वर्ष से जानता हूँ उसको दस वर्ष के कितने लम्बे अरसे तक नहीं जानता। सम्भवतः आजीवन के सम्पर्क का जमाखर्च हिसाब करके देखने से भी कोई बहुत बड़ा आँकड़ा हाथ में नहीं रहता। उस बात पर विचार करके देखने से सभी अपरिचित मालूम होने लगते हैं। ऐसी हालत में हम समझ सकते हैं कि खूब ज्यादा परिचित होने की कोई बात ही नहीं है, क्योंकि, दो दिन बाद अलग होना ही पड़ेगा। हमारे पहले करोड़ करोड़ मनुष्य इस सूर्य प्रकाशित लोक में, नीले आकाश के नीचे, जीवन के भरी-आशाओं में परस्पर मिले हैं, और फिर विच्छिन्न होकर, विस्मृत होकर

छूट गये हैं। इस तरह सोचकर समझने से, कुछ ऐसे स्वभाव के लोग हैं जिन्हें वैराग्योदय हो जाता है, किन्तु मुझे ठीक उलटा ही होता है। मुझे और अधिक देखने, और अधिक जानने की इच्छा होती है। यही जो हम कितने ही प्राणी जड़ महासागर के बुलबुले की तरह बहते हुए आकर एक जगह टिक गये हैं, इस अपूर्व संयोग में जितना विस्मय, जितना आनन्द है, वह फिर सौ युगों में तैयार होगा या नहीं इसमें सन्देह है।

वास्तव में, मनुष्यों के एक निमेष में एक सौ युग के संयोग-वियोग हो जाते हैं। इस बार यहाँ चले आने के पहले एक दिन दोपहर के समय स——....पार्क स्ट्रीट में आये थे, पियानो बजने लगा था, मैं गाने की तैयारी कर रहा था, तभी हठात् एक समय सबकी तरफ ताकने से मुझे मालूम हुआ कि अनन्तकाल की घटना-परम्पराओं के बीच यह तो एक आश्चर्यजनक बात है। मालूम हुआ कि इसके अन्दर जितना सौन्दर्य और आनन्द है और खुली खिड़की से बादल वाले आकाश का यह जो उजाला आ रहा है, इससे एक असाधारण लाभ है। प्रति दिन के अभ्यास की जड़ता एक दिन किस कारण जरा टूट जाती है मैं नहीं जानता, तब मानो अपने नवीन हृदय द्वारा अपने को, सामने के दृश्य को, और वर्तमान घटना को, अनन्त काल के चित्रपट पर प्रतिफलित देख पाता हूँ। अभ्यास का एक गुण यह है कि वह भारी तरफ की बहुत-सी चीजों को घटाकर हलका बना देता है, कवच की तरह ढँक कर बाहर के अत्यन्त संस्पर्श से मन की रक्षा करता है। किन्तु उस अभ्यास को मेरा मन कोई बहुत दृढ़ता से नहीं पकड़ता—पुरातन को बार-बार नूतन की ही तरह देखता रहता हूँ, इसीलिए दूसरे लोगों के साथ मेरे मन का Perspective पृथक् हो जाता है, डरते-डरते परीक्षा करके देखना पड़ता है, इनमें से कौन कहाँ मौजूद है!

१११

सिलाईदह

५ अगस्त १८९४

कल सारी रात लगातार मूसलाधार वर्षा होती रही। आज भोर में जब उठा तो उस समय भी वर्षा रुकी नहीं थी, झड़ी लगी ही रही। अभी-अभी स्नान की कोठरी से बाहर आकर देखता हूँ कि पश्चिम तरफ उस धान के खेतों के ऊपर खूब सजल श्यामल झुके हुए ढेर के ढेर बादल स्तर पर स्तर जमे हुए हैं और पूरब-दक्खिन दिशा में बादलों के कुछ फट जाने से धूप निकलने की चेष्टा दिखाई पड़ रही है—धूप और वर्षा में मानो थोड़ी देर के लिए सन्धि हो गयी है। जिस तरफ छिन्न बादल के भीतर से प्रातःकाल का प्रकाश निकलकर आ रहा है, उस तरफ अपार पद्मा नदी का दृश्य बहुत ही सुन्दर बन गया है। जल के रहस्य-गर्भ से एक अलौकिक ज्योति-सम्पन्न प्रतिमा, स्नानोपरान्त स्वच्छ होकर निकल पड़ी है और अपनी नीरव महिमा से खड़ी है। और किनारे की जमीन पर काला बादल, सिंह की तरह केसर फुलाये हुए, भौंहें तान धान के खेतों में पञ्जे फैलाकर चुपचाप बैठा हुआ है—वह मानो एक दिव्य शक्ति-रूप सुन्दरी के सामने हार मान गया है, किन्तु अभी तक उसने पोस नहीं माना है, राग-अभिमान समेट कर बैठा हुआ है। इसी क्षण फिर वर्षा होने के लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं। सावन की वर्षा की विधिवत् तैयारी हो रही है। सोकर उठी हुई हास्य-मय ज्योति की किरणें जिस खुले दरवाजे के सामने आ खड़ी हुई थी, वही दरवाजा फिर धीरे-धीरे बन्द होता जा रहा है, पद्मा की मटमैल जल-राशि छाया से आच्छन्न हो रही है, नदी के एक तीर से लेकर दूसरे तीर तक बादल के साथ बादल आबद्ध होकर सारे आकाश पर अधिकार कर बैठे हैं—यह तैयारी तो खूब जबर्दस्त हुई है।

इतने दिनों में उस धान और पाट के खेतों का प्रायः खाली हो जाना उचित था, किन्तु इस बार देवता की कृपा से सारी फसल खेतों में ही झूल रही है। देखने में बहुत सुन्दर लग रही है। बरसात का आकाश सजल बादलों से शीतल है और पृथ्वी झूमने वाले साँवले शस्यों से कोमल बनी हुई है, ऊपर एक गाढ़ा रङ्ग है और नीचे भी एक गाढ़े रङ्ग का प्रलेप है। जमीन कहीं भी अनावृत नहीं है, सर्वत्र ढँकी हुई है, मिट्टी का रङ्ग केवल इस नदी के मटमैले जल में ही दिखाई पड़ रहा है। पद्मा एक-एक देश-प्रदेश को ढोती हुई ले जा रही है—उसके जल में ही कितने जमींदारों की जमींदारियाँ घुली-मिली हैं। पद्मा भीषण कौतुक से एक राजा का राज्य हरण कर अपने गेरुआ आँचल में छिपा, दूसरे राजा के राज्य में रातोरात रख आती है—अन्त में प्रातःकाल राजा-राजा में लाठी चलने लगती है, मार-पीट होने लगती है।

●

११२

सिलाईदह

८ अगस्त १८९४

एक भी मनुष्य केवल सामने उपस्थित रहे तो उसी से प्रकृति की आधी बात कानों में नहीं पहुँचती। मैंने देख लिया है, रह रहकर थोड़ी थोड़ी बातचीत करने की मानसिक शक्ति का अपव्यय होता है, इससे अधिक कुछ भी नहीं। जिस दिन अब एक बात भी न कहकर बीतने लगते हैं तब एकाएक पता चल जाता है कि, हमारे चारों तरफ बात-चीत हो रही है। आज नदी की मधुर ध्वनि की प्रत्येक झनकार मानो मेरे समूचे अङ्ग में कोमल आदर बरसा रही है—मेरा मन आज अत्यन्त निर्जन और सम्पूर्ण निस्तब्ध है। चारों दिशाएँ बादलों के

फट जाने से होने वाले प्रकाश से उज्ज्वल हो उठी हैं, उसमें शस्य हिलोरें खा रहे हैं, जल कलकल ध्वनि कर रहा है। इन दिशाओं के साथ आमने सामने बैठकर शब्दहीन प्रीति-सम्मेलन के लिए एक नीरव गोपनीयता मेरे मन में स्थिर भाव से विराज रही है। मैं जानता हूँ कि आज सन्ध्या समय जब मैं अपनी आराम कुर्सी पर बोट की छत पर अकेला बैठ जाऊँगा, तब मेरे सम्मुखस्थ आकाश में मेरा वह सन्ध्या-तारा अपने ही घर के आदमी की तरह दिखाई पड़ेगा। जाड़े के दिनों में जब मैं इस पद्मा के किनारे आया करता था, तब कचहरी से लौटने में बहुत देर हो जाती थी। बोट उस पार बालू की रेती में बँधा रहता था। छोटी डोंगी पर चढ़कर मैं नदी को पार करता था, तब यह सन्ध्या सुगम्भीर, साथ ही सुप्रसन्न चेहरे से मेरे लिए प्रतीक्षा करती रहती थी। यहाँ की प्रकृति के साथ वही मेरा एक मानसिक घर गृहस्थी का सम्पर्क था। जीवन का जो गम्भीरतम अंश सर्वदा मौन और सर्वदा गुप्त रहता है, वही अंश धीरे धीरे बाहर निकलकर यहाँ की अनावृत सन्ध्या और अनावृत मध्याह्न में चुपचाप भय छोड़कर धीरे धीरे टहलता रहा है। यहाँ के सभी दिन मानो उसके उन्हीं बहुत दिनों के पदचिह्नों से अङ्कित हैं।

•

११३

सिलाईदह
९ अगस्त १८९४

नदी एकदम लबालब भर गयी है। उसपार की भूमि प्रायः दिखाई नहीं पड़ती। जल जहाँ तहाँ खौलता हुआ उछाल मार रहा है, फिर कहीं कहीं ऐसा जान पड़ता है कि अस्थिर जल को कोई अपने दोनों हाथों से दबादबा कर समान बनाता जा रहा है। आज मैंने देखा कि

एक मरी हुई छोटी चिड़िया स्रोत में बहती हुई आ रही है—उसकी मृत्यु का इतिहास अच्छी तरह समझ में आ रहा है। किसी गाँव के पास बगीचे में आम की डाल पर उसका घोंसला था। सन्ध्या को वह अपने घोंसले में लौट आयी और अपने साथियों के नरम नरम डैनों के साथ अपने पङ्खों को सटाकर थकी-माँदी हालत में सो गयी थी। एकाएक रात को पद्मा ने जरा करवट बदली और तुरन्त ही पेड़ के नीचे की मिट्टी धँसकर गिर गयी—घोंसले से गिरी चिड़िया एकाएक क्षणभर के लिए जाग उठी, उसके बाद उसको फिर जागना नहीं पड़ा। जब मैं मुफस्सिल में रहता हूँ तब एक वृहत् सर्वसंहारिणी, रहस्यमयी प्रकृति के सामने, अपने साथ अन्य जीवों का जो अन्तर है वह मुझे तुच्छ-सा प्रतीत होता है। शहरों में मनुष्य-समाज अत्यन्त प्रधान हो उठता है, वहाँ वह निष्ठुर भाव से अपने सुःख-दुःख के सामने किसी दूसरे प्राणी के सुख-दुःख को गणना में ही नहीं लाती। यूरोप में जो मनुष्य इतने जटिल और इतने प्रधान हैं कि वे जन्तुओं को बहुत अधिक जन्तु नहीं समझते। भारतवर्ष के लोग मनुष्य से जन्तु और जन्तु से मनुष्य बन जाने को कुछ भी खयाल में नहीं लाते। इसी कारण हमारे शास्त्रों में सर्वभूतों पर दया को असम्भव अतिशयोक्ति कहकर छोड़ नहीं दिया गया है। मुफस्सिल में विश्व प्रकृति के साथ, शरीर के साथ शरीर का घनिष्ठ सम्पर्क हो जाने पर मेरा वही भारतवर्षीय स्वभाव जाग उठता है। एक पक्षी के सुकोमल पङ्खों से ढँके हुए स्पन्दमान छोटे वक्षस्थल में जीवन का आनन्द कितना प्रबल है, इस बात को मैं अचेतन भाव से भूला नहीं रह सकता।

●

११४

कल थोड़ी ही रात बीतने पर जल का शब्द सुनकर मेरी नींद टूट

गई। नदी में एकाएक एक तुमुल कल्लोल और प्रबल चञ्चलता उपस्थित हो गई है। जान पड़ता है कि, अकस्मात् एक नये जल का स्रोत आ गया है। प्रतिदिन ही प्रायः ऐसी ही बात हो रही है। बैठा रहता हूँ, एकाएक दिखाई पड़ता है कि नदी थल्‌थल् कल्‌कल् करती हुई जाग उठी है, और सब मिल-कर खूब जोरदार धूमधाम मच गयी है। बोट के तख्ते पर पैर रखने से स्पष्ट समझ में आता है कि उसके नीचे कितने प्रकार की विचित्र शक्तियाँ प्रतिक्षण लगातार चल रही हैं। नाव जरा काँप उठती है, कुछ हिलने लगती है, जरा फूल उठती है, थोड़ी देर में पछाड़ खाकर गिर पड़ती है—ठीक मानो मैं समूची नदी की नाड़ी का स्पन्दन अनुभव कर रहा हूँ। कल आधी रात को हठात् एक चञ्चल उच्छ्‌वास आ गया था, और नाड़ी का नृत्य अत्यन्त बढ़ गया था। मैं बड़ी देर तक खिड़की के पास बेंच पर बैठा रहा। धुँधला प्रकाश मौजूद था—उसके कारण पूरी उमड़ी हुई नदी, मानो और भी पागल की तरह दिखाई पड़ रही थी। आकाश में जहाँ तहाँ बादल छाये थे। एक खूब चमकदार बड़े तारा की परछाईं लम्बी होकर जल में बहुत दूर तक एक ज्वालामय विद्ध-वेदना की तरह थरथर काँप रही थी। नदी के दोनों तट अस्पष्ट प्रकाश से और गाढ़ी नींद से आच्छन्न अचेतन हो गये थे। बीच से एक निद्राहीन उन्मत्त अधीरता, पूरे वेग से एकदम उद्देश्यहीन भाव से चली जा रही थी। आधीरात को उसी तरह के दृश्य में जागकर बैठे रहने से, अपने साथ ही यह जगत् भी कैसा नये प्रकार का मालूम होता है! दिन के समय का जनसम्पर्क वाला जगत् झूठ हो जाता है, फिर आज प्रातःकाल उठने पर गम्भीर रात्रि का मेरा वह जगत् सपने की तरह कितना दूरवर्ती और छोटा हो गया है! मनुष्य के लिये ये दोनों ही सत्य हैं, फिर भी दोनों ही विपरीत स्वतन्त्र हैं। मुझे मालूम होता है कि दिन का जगत् यूरोपीय सङ्गीत है, सुर से, बेसुर से, खण्डों से, अंशों से मिलकर एक बहुत बड़ी 'हारमनी'

का जगाता है। और रात का जगत् हमारा भारतवर्षीय सङ्गीत है, एक विशुद्ध, करुण, गम्भीर अमिश्रित रागिनी है। दोनों ही हमलोगों को विचलित कर देते हैं, दोनों ही परस्पर विरोधी हैं, क्या किया जाय। प्रकृति के मूल में एक द्विधा, एक सङ्कोच है; राजा और रानी में सब विभक्त हैं। दिन और रात्रि, विचित्र और अखण्ड, परिव्यक्त और अनादि, हम भारतवासी उसी रात्रि के राज्य में रहते हैं, हम अखण्ड अनादि द्वारा अभिभूत हैं, हमारा निर्जन अकेले का गान है, यूरोप का संगीत लोकालयों का संगीत है। हमारा गाना, श्रोता को प्रतिदिन के सुख दुःख की सीमा से बाहर ले जाकर अखिल के मूल में जो एक गतिहीन वैराग्य का देश है वहाँ ही ले जाता है; और यूरोप का संगीत मनुष्य के सुख-दुःख के अनन्त उत्थान-पतन के बीच विचित्र भाव से नचाता हुआ ले जाता है।



११५

सिलाईदह

१३ अगस्त १८९४

अहङ्कार के प्रभाव से ही मैं अपनी बातें कहना चाहता हूँ यह न समझना चाहिये। मन में जो यथार्थ विचार उठते हैं, जिसका यथार्थ अनुभव होता है, जो वस्तु सचमुच प्राप्त हो जाती है, उसे यथार्थ रीति से प्रकट कर देना ही उसका स्वाभाविक परिणाम है। एक आन्तरिक शक्ति बराबर उसी तरफ काम कर रही है। तो भी यह नहीं मालूम होता कि वह शक्ति मेरी ही है, वह तो एक संसार, व्याप्त शक्ति है। अपने कामों के बीच अपने आयत्त से बाहर का एक दूसरा पदार्थ आकर अपने ही स्वभावानुसार काम करता है। उस शक्ति के हाथ में आत्म-समर्पण कर देना ही जीवन का आनन्द है। यह केवल प्रकट ही नहीं

कराती है, वह अनुभव कराती है, वह प्यार कराती है; इसी कारण अनुभूति अपने लिये प्रत्येक बार नई और आश्चर्यजनक है। जब अपनी छोटी-सी बच्ची अच्छी लगती है, तब वह विश्व के मूल रहस्य, मूल सौन्दर्य के अन्तर्गत आ जाती है और स्नेह, उच्छ्वास उपासना की तरह बन जाती है। मेरा विश्वास है कि, हमारे जितने प्यार हैं वे सभी रहस्यमय की पूजा हैं; किन्तु हम वह पूजा अचेतन भाव से करते हैं। जितने ही प्रेम हैं वे सभी हमारे भीतर से विश्व की अन्तरतम एक शक्ति के जाग्रत आविर्भाव हैं। जो नित्य आनन्द अखिल जगत् के मूल में हैं, उसी आनन्द की यह क्षणिक उपलब्धि है, नहीं तो उसका कोई अर्थ ही नहीं रहता। सारे संसार में सर्वव्यापी आकर्षण-शक्ति जैसी है, छोटी-बड़ी सभी जगहों में उसका जैसा काम है, अन्तर-जगत् में उसी तरह के एक विश्वव्यापी आनन्द का आकर्षण है। उस आकर्षण से ही हम विश्व में सौन्दर्य और हृदय में प्रेम अनुभव करते हैं, जगत् के भीतर के उस अनन्त आनन्द की क्रिया हमारे मन के भीतर भी काम करती है। हम लोग यदि उसको अलग अलग देखने लगेंगे तो उसका कोई सच्चा अर्थ न रह जायगा। प्रकृति में, मनुष्य में, हम लोग क्यों आनन्द पाते हैं उसका एक मात्र सदुत्तर है—

आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।



११६

सिलाईदह
१६ अगस्त १८९४

यह शुक्लपक्ष चल रहा है, इसीलिए टहलते समय सुन्दर चाँदनी मिलती है। मेरी बायीं तरफ बहुत बड़ा मैदान है, कहीं कहीं आउश धान के खेत हैं। एक छोर पर मैदान की एक पतली पगडण्डी है,

सामने और पूरब तरफ गल्ले की आढ़तें हैं, सामने पुआल का बड़ा ढेर है—ज्योत्स्ना में ये सभी चित्र सरीखे दिखाई दे रहे हैं! सन्ध्या की यह बेला, मेरे माथे पर, मेरी आँखों के सामने, मेरे पैरों के नीचे, मेरे चारों ओर ऐसी सुन्दर, ऐसी शान्तिमय होकर मेरे समीप आ गयी है कि आकाश के नक्षत्रलोक से लेकर पद्मा नदी की सुन्दर छायामय तट-रेखा तक, पूरा ही एक निभृत एकान्त गृह की भाँति जान पड़ता है। मेरे अन्दर जो दो प्राणी हैं अर्थात् बाहर का मैं, और मेरी अन्तरस्थ आत्मा, ये दोनों मिलकर समूचे मकान पर दखल जमाये रहते हैं, इस दृश्य के अन्तर्गत जो सब पशु-पक्षी रहते हैं, जो प्राणी हैं, वे हमारे ही अन्तर्गत हो जाते हैं। जल का मनोहर शब्द सुनाई पड़ता रहता है—मुँह पर और माथे पर ज्योत्स्ना के सफेद हाथ आदर के साथ स्पर्श करते रहते हैं, आकाश में चकोर पक्षी बोलता हुआ चला जाता है, मछुए की नाव पद्मा के बीचोंबीच तेज स्रोत के ऊपर से किसी चेष्टा के बिना अनायास ही सरकती चली जाती है, आकाशव्यापी,शीतल रात्रि मेरे रोम-रोम में प्रवेश कर धीरे-धीरे उत्ताप को शीतल कर देती है—मैं आँखें बन्द कर, कान रोपे हुए, शरीर को फैलाकर प्रकृति की एकमात्र यत्नपूर्वक रक्खी हुई चीज की तरह पड़ा रहता हूँ, उसकी एक हजार दासियाँ मेरी सेवा करती रहती हैं। मन की कल्पना भी अपने दोनों हाथों में थाल सजाकर मेरे समीप आ खड़ी होती है, मन्दगति से बहनेवाली हवा के साथ उसकी कोमल अँगुलियों का स्पर्श, अपने बालों में मैं अनुभव करने लगता हूँ।

●

११७

सिलाईदह

१६ अगस्त १८६४

इस बार मैं अपने साथ रामभोहन राय की बंगला ग्रन्थावलि ले

आया हूँ। उसमें तीन संस्कृत वेदान्त ग्रन्थ और उनका अनुवाद है। इनसे मुझे बड़ी सहायता मिली है। वेदान्त पढ़ कर लोग विश्व और विश्व के आदि कारण के सम्बन्ध में सन्देहहीन हो जाते हैं, किन्तु मेरा सन्देह दूर नहीं होता। एक हिसाब से दूसरे अनेक मतों की अपेक्षा वेदान्त मत सरल है। सृष्टि और सृष्टिकर्ता, ये दो शब्द सुनने में सहज हैं किन्तु ऐसी समस्या कोई दूसरी नहीं है। वेदान्त उसकी ही बिलकुल मूल ग्रन्थि को काटकर बैठा हुआ है—समस्या को उसने एकदम आधा छाँट ही डाला है। सृष्टि बिलकुल है ही नहीं, हमलोग भी नहीं हैं, है केवल ब्रह्म, और ऐसा मालूम हो रहा है कि हमलोग हैं। आश्चर्य की बात यह है कि, मनुष्य अपने मन में इस बात को स्थान दे सकता है इससे भी बढ़कर आश्चर्य यह है, यह बात सुनते में जैसी असंगत मालूम होती है असल में वैसी यह नहीं है—वस्तुतः कुछ है, इसे सिद्ध करना ही कठिन है। जो कुछ भी हो, आजकल सन्ध्या के समय जब चाँदनी खिल उठती है और मैं जब अधमुँदी आँखों से बोट के बाहर आराम कुर्सी पर पैर पसारे बैठ जाता हूँ, शीतल समीर मेरे चिन्ताक्रान्त ललाट को स्पर्श करता रहता है, तब यह जल स्थल आकाश, यह नदी-कल्लोल, किनारे की सूखी जमीन, कभी दो-चार राहगीर, और जल पर कभी दो-चार डोंगियों का आना-जाना, चाँदनी में धुँधली दिखाई पड़नेवाले मैदान के छोर, दूरी पर अन्धकार-जड़ित वन से घिरा हुआ सुप्तप्राय गाँव—सब ही छाया की ही तरह, माया की तरह मालूम होते हैं, तो भी वह माया सत्य की अपेक्षा अधिक सत्य होकर जीवन को जकड़ रखती है, और इस माया के हाथ से परित्राण पा लेना ही मुक्ति है यह बात किसी तरह भी समझ में नहीं आती! दार्शनिक कह सकते हैं, जगत् को सत्य समझ लेने से दिन के समय जो एक दृढ़-बन्धन जाल रहता है, वह बन्धन, सन्ध्या के समय छायामय और सौन्दर्यमय हो जाने से बहुत परिमाण में शिथिल हो जाता है। जब हम इस जगत्

को एकदम विशुद्ध माया कहकर निश्चित जान जायँगे तभी मुक्ति की बाधा न रहेगी। इस बात का मैं अति अल्प अनुमान और अनुभव कर सकता हूँ, सम्भवतः किसी दिन देख लूँगा कि बुढ़ापे के पहले मैं जीवनमुक्त होकर बैठा हुआ हूँ।

११८

पद्मा नदी इस समय खूब भड़कीली दिखाई पड़ रही है—बिलकुल ही छाती फुलाकर चल रही है। उस पार की तटभूमि काजल की एक नीली रेखा की तरह दिखाई पड़ रही है। मैं इस जल की तरफ ताकते-ताकते सोचता रहता हूँ, वस्तु से गति को पृथक् करके यदि उस गति को ही केवल गति के रूप में ही समझ लेने की इच्छा करूँ तो उस हालत में नदी के स्रोत ही में वह मिल सकती है। मनुष्यों और पशुओं में जो चलना-फिरना है वह थोड़ा-सा चलना है, थोड़ा-सा नहीं चलना है, किन्तु नदी का [illegible] तक ही चल रहा है, इसी कारण [illegible] हमारी चेतना के साथ उसका एक सादृश्य मिलता है। हमारा शरीर आंशिक रूप से अपने पैरों को चलाता है, अपनी [illegible] को चलाता है, किन्तु हमारे मन को [illegible] से ऊपर तक पूरा ही चलाता रहता है। इसी कारण भादों मास की यह पद्मा नदी, एक प्रबल मानसिक-शक्ति की तरह मालूम होती है, वह मन की इच्छा की ही तरह, वह अपने आवर्तों [illegible] तरङ्गों के द्वारा अस्फुट मधुर भङ्गियों से तरह-तरह [illegible] करने की चेष्टा कर रही है। वेगवती [illegible] गामिनी नदी हमारी इच्छा की तरह है, और विचित्र शस्य-शालिनी स्थिर भूमि हमारी इच्छा की सामग्री की तरह है।

हमारा बोट छूट चला है। किनारा अब बायीं तरफ पड़ गया है। [illegible] मधुर सरस, हरियाली के ऊपर अत्यन्त घने नीले बादल मालू-

स्नेह की तरह झुके हुए हैं। कभी-कभी बादलों की गड़गड़ाहट हो रही है। वैष्णव पदावलियों में बरसाती यमुना-वर्णन मुझे याद पड़ रहा है। प्रकृति के अनेक दृश्य ही मेरे मन में वैष्णव कवियों के छन्दों की झनकार ला देती है। इसका प्रधान कारण यह है कि प्राकृतिक सौन्दर्य मेरे लिए शून्य सौन्दर्य नहीं है। इसके भीतर एक चिरन्तन हृदय की लीला का अभिनय हो रहा है। वैष्णव पदावलियों के मर्मस्थल में जिसने प्रवेश किया है, समस्त प्रकृति में वह वैष्णव कविताओं की ध्वनि सुन सकता है।

●

११६

शाहजादपुर
५ सितम्बर १८९४

बहुत देर तक बोट में रहने के बाद हठात् शाहजादपुर के मकान में आ पहुँचने पर बहुत ही अच्छा लगता है। इस मकान में बड़ी-बड़ी खिड़कियाँ हैं जो दरवाजों की भाँति हैं। चारों तरफ से उजाला आता है, हवा आती है। जिधर ही नजर उठाकर देखने लगता हूँ उसी तरफ पेड़ों की हरी डाल-पत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं और चिड़ियों की बोली सुन पाता हूँ। दक्खिन तरफ के बरामदे में केवल कामिनी-फूलों की गन्ध से मस्तिष्क के सभी रन्ध्र परिपूर्ण हो जाते हैं। हठात् समझ सकता हूँ, कि इतने दिनों से महान् आकाश के लिए भीतर ही भीतर एक भूख थी, यहाँ आकर उससे पेट भर लिया गया। चार बड़े-बड़े कमरों का मैं अकेला ही मालिक हूँ, सभी दरवाजे खोलकर बैठा रहता हूँ। यहाँ मेरे मन में लिखने का जैसा भाव आता है, जैसी इच्छा लिखने की होती है, और कहीं भी वैसा भाव नहीं आता या वैसी इच्छा नहीं होती।

बाहरी जगत् का एक सजीव प्रभाव कमरे में बे-रोक-टोक प्रवेश करता है। प्रकाश, आकाश, हवा, शब्द, गन्ध, हरियाली का लहलहाना और मेरे मन का नशा इन सबके मिलन से कहानी का ढाँचा तैयार हो जाता है। विशेषतः यहाँ के दोपहर के समय में एक निविड़ मोह मौजूद है, धूप का उत्ताप, निस्तब्धता, निर्जनता, पक्षियों विशेषतः कौओं की बोली, सुन्दर सुदीर्घ अवसर—सब मिलकर मेरे मन को उदास बना देते हैं। नहीं जानता, क्यों? शाहजादपुर में दोपहर का यह मेरा समय गल्प लिखने का समय है। मुझे याद है ठीक इसी समय इसी टेबिल पर बैठकर अपने मन से विभोर बन मैंने 'पोस्ट मास्टर' शीर्षक गल्प लिखा था। मैं लिख रहा था और मेरे चारो तरफ का उजाला, हवा और वृक्ष—शाखाओं का कम्पन अपनी भाषा जोड़ते जा रहे थे। इस तरह चारो दिशाओं के साथ सब कुछ मिल-जुल जाने पर अपने मन के अनुकूल कोई एक रचना कर डालने में जो सुख है वैसा सुख संसार में कम ही है। आज सबेरे "फुटकर छोटी-छोटी" कविताओं के सम्बन्ध में मैं एक निबन्ध लिखने लगा था। बहुत ही अच्छा मालूम हो रहा था। ऐसी कविता के लिए कोई नियम कानून नहीं है, बादलों के राज्य की तरह है। इसीलिए मेरा निबन्ध गद्य में भी क्यों न रहे, नियम कानूनों के बिना मनमानी राज्य की बात देने का उपाय नहीं है। मेरे निबन्ध के बीच अचानक ही एक उपद्रव आ पहुँचा, उसने बादलों की मेरी इमारत को ढहा दिया। इन सब कामों में भोजन का समय आ गया। दोपहर के समय भरपेट खा लेने के समान अच्छा लगने वाला और कोई काम नहीं है। हम बङ्गाली लोग बहुत चढ़ाकर दोपहर का भोजन करते हैं, इसी कारण हम सब कामकाज खो देते हैं। दरवाजा बन्द कर तमाखू पीते-पीते, पान चबाते-चबाते सुख से सो रहने की तैयारी होने लगती है। इसी से हम लोग बहुत समझदार गोलमाल बन जाते हैं। फिर भी बङ्गदेश के सीमाहीन बहुत दूर तक फैले हुए, समतल शस्य-

क्षेत्रों में जनहीन थका हुआ सायंकाल जिस गम्भीर भाव से, वृहत् भाव से विस्तृत हो सकता है, ऐसा और कहीं भी नहीं।



१२०

पतिसर

१० सितम्बर १८९४

भादों मास का दिन है, हवा अधिक नहीं है, बोट का ढीला पाल झूलता हुआ झटका खा रहा है---मानो धीरे-धीरे उदासीन की भाँति चली जा रही है। सेवारों से परिपूर्ण इस सुविस्तृत जल-राज्य में शरत् की चमकती हुई धूप में मैं खिड़की के पास एक कुर्सी पर बैठा हुआ हूँ। दूसरी कुर्सी पर पैर पसार सारा दिन गुन् गुन् करता हुआ गाना गा रहा हूँ। राम केलि प्रभृति प्रातःकाल के सुर का जरा आभास मिलने के साथ ही एक ऐसी विश्वव्यापी करुणा पिघल कर चारों दिशाओं को वाष्पाकुल बनाती जा रही है कि ये सब रागिनियाँ समूचे आकाश, समूचे संसार का अपना गान मालूम होने लगा है। यह एक इन्द्रजाल है, यह एक माया मन्त्र है। अपने इस गुन् गुन् गुञ्जरित स्वर के साथ कितनी छोटी-छोटी बातें मैं जोड़ देता हूँ, इसकी कोई संख्या नहीं है। एक लाइन का ऐसा गान, सारा दिन कितनी संख्या में मन में आ रहा है, कि कितनों को ही छोड़ता जा रहा हूँ। इस कुर्सी पर बैठकर आकाश से आने वाली गुनगुनी धूप को आँखों से चखते-चखते और जल के ऊपर फैले हुए सेवारों की सरस कोमलता पर अपने मन को धीरे-धीरे चलाते-चलाते, कितनी बातें अनायास आलस्य के साथ आप ही आप दिमाग में आ पड़ती हैं उनके अंकन के लिए चेष्टा करना मेरी शक्ति से परिभूत है। आज सबेरे प्रभातकाल में तीन-चार रागिनियों की जो

दो-तीन पंक्तियों में आवृत्ति कर रहा था, वे मुझे याद है, उदाहरण स्वरूप उद्धृत कर देता हूँ—

नित्य नव-नव रूपों में आओ प्राणों में।
आओ गन्ध रङ्ग और गानों में।
जिस दिशि में देखूँ तुम आओ हे।
मेरे मुग्ध बन्द इन नयनों में।



१२१

दिघपतिया का जलमार्ग
२० सितम्बर १८६४

बड़े-बड़े पेड़ जल में अपनी सभी जड़ों को डुबाकर शाखा-प्रशाखाओं को जल पर झुकाये हुए खड़े हैं। आम और बर के पेड़ों के घने अन्धकारपूर्ण जङ्गल में नाव बँधी हुई हैं, और उसी जगह छिपी हालत में गाँव के लोग स्नान कर रहे हैं। जल के स्रोत में जहाँ-तहाँ फूस की मड़ैया खड़ी है, उसके चारों तरफ की जमीन जलमग्न है। धान के खेतों के बीच से नाव सरसराती हुई जा रही थी, एकाएक वह किसी जलाशय में जा पड़ी। वहाँ नालवन में नालफूल खिले हुए थे, बगुले जल में [illegible] मछलियाँ पकड़ रहे थे। जल जहाँ की सुविधा पा [illegible] प्रवेश किया जा रहा था—स्थल का ऐसा पराभव और कहीं भी नहीं दिखाई पड़ता। और थोड़ा जल बढ़ जाने से ही मकानों में जल घुस जायगा। तब मचान बनाकर उनके ही ऊपर रहना पड़ेगा, गायें दिन-रात घुटनों भर जल में खड़ी-खड़ी मरती रहेंगी, पानी के साँप जल में डूबे बिलों को छोड़कर मकानों की छतों पर आश्रय लेंगे और जगह-जगह के आश्रयहीन कीड़े-मकोड़े-साँप मनुष्यों के साथ रहने लगेंगे। अब गाँव के चारों तरफ के जङ्गल जल में डूब जाते हैं,

पत्तियाँ लताएँ, झाड़ियाँ सड़ने लगती हैं, गोशाला और मकानों के तरह तरह के कूड़े चारों तरफ बहते रहते हैं, पाट सड़ने की गन्ध से हवा बिगड़ी रहती है, नङ्गे-धड़ङ्गे बड़े-बड़े पेट वाले सूखे पैर वाले बच्चे-बच्चियाँ जहाँ-तहाँ जल में, कीचड़ में खेल-कूद करती रहती हैं, मच्छड़ों के झुण्ड स्थिर जल पर एक वाष्पस्तर की तरह झुण्डों में बहते जाते हैं, गृहस्थों की स्त्रियाँ भींगी साड़ियाँ पहने बादल वाले दिन की ठण्डी हवा में वर्षा के जल में भींगते-भींगते घुटनों तक कपड़े उठाये जल को ठेलते-ठेलते सहिष्णु जानवरों की तरह घरेलू काम-धन्धे से नित्य कर्म करती रहती हैं—तब यह दृश्य किसी तरह भी अच्छा नहीं लगता। घर-घर गठिया पकड़ रहा है, पैर फूल रहे हैं, सर्दी हो रही है, उदर पकड़ रहा है, तिल्ली वाले बच्चे बराबर रो रहे हैं। किसी तरह भी कोई उन्हें बचा नहीं सकता। इतनी अवहेला, इतना अस्वास्थ्य, असौन्दर्य, दारिद्र्य मनुष्यों के निवास स्थानों में क्या एक क्षण भी सहा जाता है। सभी तरह की शक्तियों के सामने ही हम लोग पतवार छोड़कर बैठे हुए हैं। प्रकृति उपद्रव करती रहती है तो उसे भी सहते रहते हैं, शास्त्र चिर दिनों से जो उपद्रव करते आ रहे हैं, उनके विरुद्ध भी कोई बात कहने का साहस हमें नहीं होता।

●

१२२

बोआलिया के मार्ग में
२२ सितम्बर १८९४

जब मैं विचार करता हूँ कि इस जीवन में कितने दिन और कितनी ऋतुओं का आना-जाना हुआ है, तब मुझे बड़ा आश्चर्य मालूम होता है। मुझे मालूम होता है कि मेरा सुदीर्घ अतीत क्रमशः ही और अधिक अस्पष्ट होकर अनादि काल की तरफ चला गया है और इस बृहत् मानस-राज्य के

ऊपर जब बादल-विहीन प्रभात की धूप आ पड़ती है तब मैं मानो अपने माया-भवन की खिड़की पर बैठा हुआ एक सुदूर विस्तृत भाव-राज्य की तरफ टकटकी बाँधे ताकता रहता हूँ और मेरे ललाट पर जो हवा आकर लगती रहती है वह मानो अतीत के समस्त अस्पष्ट मृदु गन्ध-प्रवाह को ढोकर लाती रहती है। मैं प्रकाश और हवा को कितना प्यार करता हूँ। गेटे ने मरते समय कहा था :—Morelight ! मुझे यदि उस समय कोई इच्छा प्रकट करनी पड़ी तो मैं कहूँगा :—More Light and more space बहुत से लोग बङ्गदेश को समतल भूमि कहकर आपत्ति प्रकट करते हैं; किन्तु इसी कारण इस देश के खेतों-मैदानों का दृश्य, नदी के किनारे का दृश्य मुझे इतना अच्छा लगता है। जब सन्ध्या का प्रकाश और सन्ध्या की शान्ति ऊपर से नीचे उतरने लगती है तब समस्त उन्मुक्त आकाश, एक नीलकान्त मणि के प्याले की तरह नीचे ऊपर तक परिपूर्ण होता रहता है। जब सीमित शान्त नीरव मध्याह्न, अपने समस्त सुनहरे आँचल को बिछा देता है तब कहीं भी उसे बाधा नहीं मिलती—ताकते-ताकते देखते रहने और देखकर मन को भर लेने की ऐसी जगह और कहाँ है।

●

१२३

बोवालिया

२४ सितम्बर १८९४

बहुत बार मैंने विचार करके देख लिया है कि, मैं सुखी हूँ या दुःखी यही मेरे लिए चिन्तनीय बात नहीं है। हमारी अन्तरतम प्रकृति सभी सुख दुःखों के अतीत रहकर एक विशेष आनन्द करती रहती है। हमारा बाहरी जीवन और भीतरी जीवन, दोनों केवल एकत्र संलग्न हुए पड़े हैं, किन्तु दोनों एक नहीं हैं, यह मैं स्पष्ट समझ सकता हूँ।

हमारा क्षणिक जीवन ही सुख दुःख भोग करता है; हमारा चिर जीवन उस सुख-दुःख को ग्रहण नहीं करता, उससे वह एक तेज सञ्चय करता है। पेड़ों की पत्तियाँ प्रतिदिन धूप में फैलती हैं, फिर सूख कर झरती जा रही हैं, फिर नई पत्तियाँ उनमें उग रही हैं। पेड़ों का क्षणिक जीवन केवल धूप भोग करता है और उसी उत्ताप से सूखकर झरता जा रहा है, और पेड़ों का चिर जीवन उसके भीतर से दाहहीन चिरअग्नि सञ्चय कर रहा है। हमारी प्रतिदिन की, प्रतिक्षण की पल्लव-राशि चारों तरफ फैलाकर जगत् के समस्त बहते हुए सुख दुःख को भोग रही है और उसी सुख दुःख के उत्ताप से ही सूखकर, जलकर झरती हुई गिर रही है, किन्तु हमारे चिर-जीवन को उस प्रतिक्षण का दाह स्पर्श नहीं कर सकता, तो भी उसके तेज का वह बराबर ही संग्रह करता जा रहा है। जिस मनुष्य में प्रतिक्षण के सुख दुःख भोग करने की शक्ति साधारण है, उसका दाह भी थोड़ा है, वैसे ही उसके चिर प्राण का सञ्चय भी अकिञ्चित् है। सुख दुःख के ताप से संदीप्त होकर उनका क्षणिक जीवन अनेक दिन स्थिर रहता है, वे अचेतना के आवरण से, क्षणिक को उसकी अपेक्षा कुछ अधिक स्थायी बना रखते हैं, दो दिनों को ऐसा ताजा बना रखते हैं कि हठात् वे चिरदिन के मालूम होते हैं। संसार की साधारण बात को वे ऐसा बना देते हैं मानो वे असाधारण हों।

१२४

बोआलिया

२५ सितम्बर १८९४

हम जब कोई बहुत बड़ा आत्मत्याग करते हैं तब क्यों करते हैं? एक बड़े आवेग से हमारा क्षणिक जीवन हमसे विच्छिन्न हो जाता है, उसका सुख-दुःख हमें स्पर्श नहीं कर सकता। हम लोग हठात् देख पाते हैं कि, हम अपने सुख दुःखों से बड़े हैं, हम अपने प्रतिदिन के

तुच्छ बन्धनों से मुक्त हैं। सुख की चेष्टा और दुःख का परिहार, यही क्षणिक जीवन का प्रधान नियम है; किन्तु कोई कोई समय ऐसा आता है जब हम नये सिरे से समझ पाते हैं कि, हमारे अन्तस्तल में ऐसा एक स्थान है, जहाँ वह नियम लागू नहीं होता। तब हमलोग अपने क्षणिक जीवन को परास्त करके ही एक आनन्द पाते हैं, दुःख को गले का हार बना देने से ही मन में उल्लास उत्पन्न होता है। तब मालूम होता है, अन्तरस्थ उस स्वाधीन पुरुष के बल से ही सुख दुःख के भीतर से, मैं चिरकाल अपनी प्रकृति की सफलता सम्पन्न करूँगा। किन्तु फिर चारों तरफ के संसार की जनता, प्रतिदिन के भूख प्यास से, प्रबल हो उठती है और उस [illegible] को हमारी आँखों से ओझल कर देती है [illegible] हो जाता है। मैं जब अकेला मुफस्सिल में रहता हूँ तब प्रकृति का भीतरी आनन्द मेरे अन्तर के आनन्द निकेतन का द्वार खोल देता है। गानों के सुर से गान की बातें जिस तरह अमरता प्राप्त करती हैं उसी तरह प्रतिदिन का संसार अन्तर की [illegible] द्वारा [illegible] प्राप्त करता है; हमारे सभी [illegible] एक [illegible] के भाव से ज्योतिर्मय हो [illegible] जाता है ऐसी बात नहीं है, किन्तु वह मानो मेरे निजत्व की संकीर्ण सीमा को पार कर ऐसे सुबृहत् आकाश में व्याप्त हो जाता है कि, वहाँ एक सौन्दर्य बिखेरता रहता है! इस बार [illegible] में रहते समय मैंने अन्तर्यामी नामक एक कविता लिखी है, उसमें मैंने अपने अन्तर की बातें बहुत कुछ प्रकट करने की चेष्टा की है।

१२५

कलकत्ता

५ अक्टूबर १८९४

आज प्रातःकाल की हवा में बहुत ही कम जाड़ा मिला हुआ था,

कुछ सिहरन सी मालूम हो रही थी। कल दुर्गापूजा का उत्सव है, आज उसकी सुन्दर सूचना मिल गयी। घर-घर देश के लोगों के मन में जब एक आनन्द प्रवाहित हो रहा है तब उनके साथ मेरे धर्मसंस्कार का विच्छेद रहने पर भी वह आनन्द, मन का स्पर्श करता है। परसों स... के घर जाते समय देख रहा था, सड़क के दोनों तरफ प्रायः बड़े बड़े मकानों के बरामदों में प्रतिमा तैयार हो रही है। देखकर मेरे मन में ख्याल उठा, देश के बूढ़े-बच्चे सभी एकाएक कुछ दिनों के लिए लड़के बन गये हैं और एक बड़े प्रकार के खेल में लग गये हैं। विचार कर देखने से मालूम हो जायगा कि, आनन्द के सभी आयोजन गुड़ियों के खेल ही हैं, अर्थात् उनमें आनन्द के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नहीं है, लाभ नहीं है—बाहर देखने से मालूम होता है कि समय नष्ट हो रहा है। किन्तु समस्त देश के लोगों के मन में जो एक भाव का आन्दोलन ला देता है, वह क्या कभी निष्फल हो सकता है। समाज में कितने ही लोग ऐसे हैं जो नीरस विषयी मनुष्य हैं। इस उत्सव में उनका भी मन एक सर्वव्यापी भाव के आकर्षण से विचलित हो सबके साथ मिल जाता है। इसी प्रकार प्रतिवर्ष कुछ समय के लिए मन की एक ऐसी अनुकूल भींगी हुई अवस्था आ जाती है, जिसमें स्नेह, प्रीति दया सहज ही में अंकुरित हो सकती है। विजया का गान, प्रिय सम्मिलन, शहनाई की आवाज, शरत् की धूप और आकाश की स्वच्छता, सभी एक साथ मिलकर मन में आनन्दकाव्य की रचना करते हैं। लड़कों का जो आनन्द है, वही विशुद्ध आनन्द का आदर्श है। वे तुच्छ उपलक्ष्य को लेकर अपने मन से उसे भर देते हैं, मामूली मिट्टी की पुतली लेकर उसे अपने भावों से सुन्दर और प्राणों से सजीव बना देते हैं। इस सामर्थ्य को जो मनुष्य बड़ी उम्र तक रख सकता हो, वही तो भावुक है। उसके लिए चारों तरफ की वस्तुएँ केवल वस्तुमात्र नहीं हैं, केवल दृष्टिगोचर या श्रुतिगोचर नहीं हैं—अपनी समस्त संकीर्णता

और असम्पूर्णता को वह एक सङ्गीत से पूर्ण कर लेता है। देश के सभी लोग भावुक हो नहीं सकते, किन्तु ऐसे उत्सव के समय भावस्रोत अधिकांश लोगों के मन पर अधिकार कर लेता है। तब जिसको दूर से देखने से साधारण पुतली की ही प्रतीति होती है—कल्पना द्वारा देखने से उसकी वह मूर्ति नहीं रहती।

●

१२६

कलकत्ता
७ अक्टूबर १८९४

हम लोगों का जो श्रेष्ठ प्रकाश है, उसे हम किसी दूसरे को केवल अपनी इच्छा से नहीं दे सकते। वह हमारे आयत्त के अतीत है, उसको दान करने या विक्रय करने की शक्ति हममें नहीं है। मूल्य लेकर बेचने की चेष्टा करने से ही उसका केवल ऊपरी आवरण मिलता है, असल चीज हाथ से निकल जाती है। अपनी जो सर्वोत्कृष्ट वस्तु है उसे कितने लोग खुद पकड़ सके हैं या संसार में छोड़ जा सके हैं! दैवयोग से ही हमलोग प्रकाशित होते हैं; इच्छा करने से, चेष्टा करने से, प्रकाशित नहीं हो सकते। हम चौबीस घण्टे जिनके पास रहते हैं उनके सामने भी अपने को व्यक्त करना हमारी शक्ति से बहिर्भूत है। किसी किसी का ऐसा एक अकृत्रिम स्वभाव है कि, दूसरों के भीतरी सत्य को वह अत्यन्त सहज में ही खींच ला सकता है। यह बात उसके अपने ही गुणों के कारण होती है। यदि किसी लेखक की सर्वापेक्षा भीतरी बात उसकी चिट्ठी में व्यक्त हो रही हो तो यही समझ लेना होगा कि, जिसको चिट्ठी लिखी जा रही है उसमें भी एक चिट्ठी लिखने की शक्ति मौजूद है।

●

१२७

बोलपुर

१९ अक्टूबर १८९४

मैं कल केवल बिछौने पर औंधा पड़ा रहा, उसी हालत में मैंने एक छोटी सी कविता लिखी और तिब्बत भ्रमण की एक पुस्तक पढ़ डाली। ऐसे स्थानों में मैं नावेल नहीं छूता। इस जनशून्य मैदान में, शाल वृक्षों के घेरे में, दुमञ्जिले के उस एकान्त कमरे में, जिसके सभी दरवाजे खुले हों और जाजिम बिछी हो, पक्षियों की करुण, मधुर-ध्वनि से पूर्ण स्वप्नावेशमय शरत् मध्याह्न में, अंग्रेजी उपन्यास किसी तरह भी उपयुक्त नहीं लगता। भ्रमण कहानी में एक बहुत बड़ी सुविधा यह है कि, उसमें एक अविश्राम गति है, फिर भी प्लाट का बन्धन नहीं है—मन को एक निर्विघ्न स्वाधीनता प्राप्त होती है। यहाँ के निर्जन मैदान के बीच से एक लाल रास्ता चला गया है; उस रास्ते जब दो चार मनुष्य अथवा दो-चार बैलगाड़ियाँ धीमी चाल से चलने लगती हैं, तो उनमें एक तरह का बड़ा आकर्षण रहता है—इससे मैदान और भी धू धू करने लगता है, मालूम होता है कि ये लोग कहाँ चले जा रहे हैं इसका मानो कोई ठिकाना ही नहीं है। भ्रमण कहानी की पुस्तक भी मेरी इस मानसिक निर्जनता में उसी तरह के एक गति-प्रवाह की क्षीण रेखा अङ्कित करती हुई चलती रहती है। उसके अवलम्ब से अपने मन के सुविस्तृत, निस्तब्ध, निर्जन आकाश को मानो मैं और भी अधिक अनुभव कर सकता हूँ।

१२८

बोलपुर

२८ अक्टूबर १८९४

अभी आठ नहीं बजे हैं, तो भी मालूम होता है कि आधीरात हो

गयी है। कलकत्ते के मकान में इस समय कौन क्या कर रहा है, मैं कुछ भी नहीं जानता। संसार में हमलोग जिन्हें जानते हैं, सभी को टूटी-फूटी लाइन की तरह जानते हैं—अर्थात् बीच-बीच में बहुत कुछ खाली जगह पड़ी रहती है, उन्हीं खाली जगहों को अपनी रुचि के अनुसार जैसे-तैसे भर लेना पड़ता है। अपनी समझ से जिन्हें हम अच्छी तरह जानते हैं, उनके भी परिचय के साथ बहुत परिमाण में अपनी कल्पना को मिला लेना पड़ता है। कितनी ही जगहों में ऐक्य-धारा छिन्न हो जाती है, पदचिह्न लुप्त हो जाता है, अनिश्चित अस्पष्ट अन्धकार रह जाता है। सुपरिचित मनुष्य भी यदि कल्पना के सूत्रों से गुथा छिन्न अंश मात्र हो, तो उस हालत में किसके साथ, किस चीज के साथ मेरा परिचय माना जायगा। मुझको भी अविच्छिन्न रूप से कौन जानता है। किन्तु सम्भवतः विच्छिन्न रहने के ही कारण, शायद उनमें कल्पना-योजना का स्थान मौजूद रहने के ही कारण वे हमारे यथार्थ अङ्ग हैं। नहीं तो अविभक्त व्यक्ति की हैसियत से ही शायद सभी अन्तर्यामी के सिवा अन्य सबके लिए दुष्प्राप्य हैं। हम अपने को भी अंश-अंश में जानते हैं—कल्पना द्वारा भरकर एक स्वरचित गल्प का नायक बना लेते हैं। आवश्यक उपकरण लेकर हम अपने को आप ही गढ़ डालेंगे, इसी लिए विधाता ने इन विच्छेदों को रख दिया है।

१२६

बोलपुर
३१ अक्टूबर १८९४

शीत ऋतु के आगमन के प्रारम्भ में ही, जो उत्तरी हवा बहने लगती है वही हवा आज प्रातःकाल से शुरू हो गयी है। सनसनाहट की आवाज करती हुई आ रही है। मेरे आँवला-वृक्षों की पत्तियाँ पीले रङ्ग की हो गयी हैं और काँपते-काँपते झरती हुई नीचे गिर रही हैं।

यहाँ के वन-राज्य में मानो मालगुज़ारी वसूल करने वाला सिपाही आ गया है—सभी काँप रहे हैं, झर रहे हैं और लम्बी साँस खींचते हुए घबड़ाहट में पड़ते जा रहे हैं। दोपहर की धूप से थके हुए विश्रामपूर्ण वैराग्य और आम की घनी डालियों पर पक्षियों की लगातार सुनाई पड़ने वाली मधुर बोलियों ने, इन छायालोक-खचित स्वप्न विह्वल पहरों को मानो विरह-विधुर बना दिया है। हमारे टेबिल पर रक्खी हुई घड़ी की आवाज़ भी, इस मध्याह्न के सुर के साथ मानो ताल रखकर चल रही है। कमरे के भीतर सारे दोपहर के समय गिलहरियों की दौड़धूप मची हुई है। फूलदार पूँछ, काली और धूसर रेखाओं से चित्रित रोएँ-दार नरम शरीर, दो छोटी काली चिनिगयों की तरह चञ्चल आँखें, बिलकुल ही निरीह पर अत्यन्त कर्मठ मनुष्य की तरह उनका व्यस्त भाव देखने में मुझे बहुत मज़ा मिलता है। इस कमरे के कोने में लोहे की जाली लगी आलमारी में दाल-चावल आदि खाद्य-सामग्री इन लोभियों से बचाने के लिए छिपा रखी जाती हैं। उत्सुक व्यग्र नाक लिये वे दिन भर इस आलमारी के चारों तरफ छेद ढूँढ़ने के लिए घूमती रहती हैं। दो-चार कण जो आलमारी के बाहर पड़े रहते हैं, उन्हें वे ढूँढ़ लेती हैं और सामने के छोटे तीखे दाँतों से कुटकुट करती हुई बहुत ही तृप्ति के साथ भोजन करती हैं। कभी-कभी पूँछ पर टेक कर बैठ जाती हैं और सामने के दोनों हाथ जोड़, उन शस्यकणों को मुँह में सँजोकर रखती जाती हैं—ऐसे ही समय में मैं ज्योंही ज़रा हिल उठता हूँ, त्योंही क्षणभर में पूँछ पीठ पर उठा, वे दौड़ती हुई भाग जाती हैं। जाते-जाते वे हठात् एकबार बीच रास्ते में कदमपोश पर रुक जाती हैं, एक पैर ऊपर उठाकर [illegible] फिर आ जाती हैं। पूरे समय तक कुटकार, खुटखुट और [illegible] झनझन ध्वनि चलती ही रहती है।

१३०

कलकत्ता

१९ सितम्बर १८९४

बचपन से ही उस फेरी वाले की चिल्लाहट सुनकर मेरा मन विचलित हो उठता है। निस्तब्ध दोपहर को चीलों की तीखी बोली भी मुझे उदास बना देती थी। बहुत दिनों से उसकी बोली मुझे सुनाई नहीं पड़ी है। आजकल चील बोलती नहीं है, यह बात नहीं। इन दिनों बहुत काम आ पड़े हैं; प्रकृति के साथ अब मुझे उस तरह का घनिष्ठ संयोग नहीं है। अब समय को बेकार छोड़ा नहीं जा सकता। यदि मन ठीक न रहने से कोई विशेष काम करने की इच्छा न रहे, तो भी निरत एक काम की चेष्टा करनी पड़ती है, निदान अन्यमनस्क भाव से भी एक पुस्तक पढ़ने का मन न करने से मन ठीक नहीं रहता। यह आदत किन्तु [illegible] भी है। मुफस्सिल में जाने पर चुपचाप बैठे रहने से भी हृदय परिपूर्ण हो उठता है; काम-काज की अन्धी दासता करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। [illegible] कर्म के निकट कुछ बोलने का साहस ही नहीं होता। [illegible] कि, इस समय कोई काम नहीं है, अथवा उसे अच्छी तरह सम्पन्न करने की शक्ति नहीं है, तब केवल अभ्यासवश या समय बिताने के तकाज़े से काम ढूँढ़ना पड़ता है, यदि कभी अपने को खोकर आप ही शान्ति नहीं मिलती तो इस हालत में यही कहना होगा कि अवस्था खराब हो गयी है। काम एक उद्देश्य-सिद्धि का उपाय मात्र है; मनुष्य तो काम का यन्त्र नहीं है। परिपूर्ण तृप्ति के साथ विराम लाभ करने की शक्ति को बिलकुल ही खो देना तो कुछ ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें भी मनुष्यत्व का एक ऊँचा अधिकार है। दिन और रात, काम और विराम की उपमाएँ हैं। दिन के समय पृथ्वी के अतिरिक्त हमारे लिए और कुछ भी नहीं है, रात के समय पृथ्वी ही कम है, अनन्त नक्षत्रलोक ही अधिक है। उसी तरह काम वाले दिन

को पृथ्वी को ही खूब स्पष्ट रूप से आँखों के सामने रखना चाहिये, किन्तु जब विश्राम की सन्ध्या आ जाती है, तब पृथ्वी को ढाँक कर देना ही आवश्यक है, तब विश्व के साथ हमारा जो विराट सम्पर्क है उसे ही बड़े रूप में देखना चाहिये। प्रातःकाल उठकर जान लेना चाहिये, कि हम पृथ्वी के मनुष्य हैं, दिन का अवसान हो जाने पर यह अनुभव करना चाहिये कि हम लोग जगत् वासी हैं।



२२१

शिलाईदह
२८ नवम्बर १८९४

दिगन्त के अन्तिम छोर तक बालू की रेती धू-धू कर रही है—उसमें न तो घास है, न तो पेड़ है, न तो मकान हैं, अर्थात् कुछ भी नहीं है। आकाश की शून्यता, समुद्र की शून्यता से हम सदा से अभ्यस्त हैं। उससे हम लोग और कुछ पाने का दावा नहीं करते—किन्तु भूमि की शून्यता सर्वापेक्षा अधिक शून्य जान पड़ती है। कहीं भी गति नहीं है, जीवन नहीं है, वैचित्र्य नहीं है। जो स्थान फलों से, शस्यों से, तृणों से, पशु-पक्षियों से परिपूर्ण रह सकता था, वहाँ एक कुश का अङ्कुर तक नहीं है—केवल एक उदास कठिन निरवच्छिन्न वैधव्य की वन्ध्या दशा है। ठीक पास से ही पद्मा बहती जा रही है। उस पार घाट है, बँधी हुई नावें हैं, लोग स्नान कर रहे हैं, [illegible] और [illegible] है, तीसरे पहर को नदी के किनारे बाज़ार की चहल-पहल होती है। दूर पद्मा के पार में वृक्षों की कतारें हैं जो नीली नीली रेखा-सी मालूम होती हैं—कहीं गाढ़ नील है कहीं पाण्डु-नील है, कहीं हरा रङ्ग है, कहीं मिट्टी की धूसरता है—और उसके बीच [illegible] मृत्यु की तरह

पीलापन लिये यह सफ़ेदी है। सन्ध्या के समय इस रेती के ऊपर और कुछ भी नहीं है, कोई भी नहीं है, मैं ही केवल अकेला हूँ।

१३२

सिलाईदह

७ दिसम्बर १८९४

शुक्ल पक्ष की सन्ध्या को जब मैं रेती पर टहलने लगता हूँ तब थोड़ी ही देर बाद श......प्रायः ही आ जाता है। कल भी वह आया था। कामकाज की बातें कह चुकने पर ज्योंही मैं चुप हो रहा, त्योंही एकाएक मुझे दिखाई पड़ा, अनन्त जगत् उसी सन्ध्या के आकाश में चुपचाप मेरे सामने खड़ा है। कानों के पास एक मनुष्य की तुच्छ बातें होती रहीं, इस कारण यह असीम आकाश से परिपूर्ण आविर्भाव ढँक गया था। ज्योंही वह मनुष्य चुप हो गया त्योंही देखते देखते निस्तब्ध नक्षत्र-लोक से शान्ति उतर आयी और उसने मेरे हृदय को परिपूर्ण कर दिया। जिस सभा में अनन्त कोटि नक्षत्रगण चुपचाप समवेत हैं, मैं भी उसी सभा में एक कोने पर स्थान पा गया। अस्तित्व नामक एक महा आश्चर्यजनक व्यापार में उनको और साथ ही मुझे भी एक आसन मिल गया है।

१३३

सिलाईदह

११ दिसम्बर १८९४

भोर में ही टहलने के लिए निकल पड़ता हूँ। जब तक श...... का आगमन नहीं होता तब तक मन को शान्त शीतल बना लेता हूँ।

उसके बाद हठात् श........आकर जब पूछ बैठता है—'आज दूध पीकर आप कैसे थे' अथवा 'आज क्या विगत मास का हिसाब देखना पूरा हो गया' तब बहुत ही बेतुकी सी बात सुनाई पड़ती है। हम लोग नित्य और अनित्य के बीच ठीक इसी तरह पड़कर दोनों तरफ के धक्के खाते हुए चले जाते हैं। जब आध्यात्मिक विषय पर बातचीत होती रहती है तब शरीर के कपड़ों और पेट की भूख की बात छेड़ देने से वह भारी असंगत सुनाई पड़ती है, फिर भी आत्मा और पेट की भूख दोनों चिरकाल एक साथ समय बिताते आये हैं। जिस जगह पर चाँदनी का प्रकाश पड़ रहा है, वहीं ही हमारी जमींदारी है, फिर भी चाँदनी कहती है,—'तुम्हारी जमींदारी मिथ्या है', जमींदारी कहती है, 'तुम्हारी ज्योत्स्ना शुरू से आखीर तक धोखाधड़ी है।' मैं इसके ही ठीक बीचोंबीच हूँ।

१२४

शिलाईदह
४ दिसम्बर १८९४

ये रेतियाँ किसी समय जल के नीचे थीं, इसी कारण किसी किसी जगह दूर तक बालू के ऊपर जल की लहरों के नाचने के चिह्न पद-चिह्नवत् पड़े हुए हैं। थोक-थोक में तहियाकर रक्खी हुई उस बालू पर तरह तरह के रङ्गों की चिकनी आभा पड़ गयी है। यह दृश्य एक प्रकाण्ड साँप के विविध रंगवाले केंचुल सरीखा दिखाई पड़ रहा था। मैंने सोचा यह पद्मा नदी तो वास्तव में एक बहुत बड़ी नागिन ही है। यह किसी समय इस ऊँची रेती पर निवास करती थी, अब वहाँ केवल उसका एक बड़ा केंचुल पड़ा हुआ है जो सन्ध्या के प्रकाश में [illegible] चमक रहा है। वर्षा की ऋतु में यह नागिन हमारे घरों के ऊपर

उठाये झपेटा लगाते-लगाते, गरजते-गरजते, किस तरह अपनी बहुत बड़ी पूँछ पटकते-पटकते फूलते-फूलते चलती रहती थी, वह दृश्य भी मुझे याद पड़ गया। अब तो यह शीतऋतु की सर्पिणी है, बिल में अर्ध-प्रवेश करके सुदीर्घ शीतनिद्रा में पड़ी हुई प्रतिदिन क्षीणतर होती जा रही है।

टहलते-टहलते थोड़ी देर में इतने विचित्र रंग धीरे-धीरे लुप्त हो गये, केवल ज्योत्स्ना की एक रंग वाली सफेदी से जलस्थल सुशोभित हो गया। एक समय जिस पूर्व दिशा में दिन का उदय हुआ था, जगत् में कहीं भी उसका और कोई स्मृति-चिह्न ही नहीं रहा।

१३५

सिलाईदह
४ फरवरी १८९४

अभी इच्छा हो रही है कि यह जाड़ा अब बीत जाय और वसन्त की खुली हवा बहने लगे। अचकन के सभी बटन खोलकर एक बार खुले बाँह पर पैर पसार दूँ और कर्तव्य का रास्ता छोड़ कर कुछ दिन [illegible] में [illegible] जाऊँ। गर्मी के छः महीने मैं साधना का [illegible] यदि कोई दूसरा उसका समादर [illegible] के अनुसार [illegible] समझी जायगी। क्योंकि [illegible] मनुष्य के हाथ में नहीं है और साल [illegible] मनुष्य के लिए दुस्साध्य है। [illegible] के बाद ऋतुपरिवर्तन होता रहे, और [illegible] सामञ्जस्य रक्षा करते हुए चलते रहें। मनुष्य के लिए भारी कठिनाई यह है कि प्रकृति के विरुद्ध समाज के नियमों के अनुसार उसका [illegible] पैंसठ दिन एक ही भाव से चलना पड़ता है। असल में अपने में जो एक चिरनवीन चिर-रहस्य मौजूद है। उसे लज्जा और भय के साथ छिपाकर अपने को सर्वसाधा-

क्षण के सामने नितान्त चिरअभ्यस्त खटनचालित यन्त्र की तरह दिखाना पड़ता है। इसी कारण कभी-कभी मनुष्य बिगड़ जाता है, विद्रोही हो उठता है। इसीलिये बे-रोकटोक अपने को समझने के लिए शिल्प-साहित्य का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इसी कारण साहित्य यदि नियमों के बन्धन में पड़ा रहे तो वह अपने उद्देश्य को नष्ट कर देता है। इसीलिये बैठकखाने के शिष्टालाप में जो सब बातें नहीं चलतीं, वे साहित्य में गम्भीरता और उदारता पाकर निःसङ्कोच अपने को प्रकट कर सकती हैं। इसी कारण ड्राइङ्गरूम की चायपान-सभा की सुसभ्य सीमा में साहित्य को आबद्ध करने से विराट विश्व प्रकृति को छींट का गाऊन पहना देने की तरह हो जाता है।



१३६

सिलाईदह

१८ फरवरी १८६५

भाग्य के परिहासवश फागुन की दुपहरी में इस निर्जन अवसर पर, इस तरङ्गविहीन पद्मा के ऊपर, इस निभृत नाव में बैठे रहने की हालत में सामने सुनहली धूप और सुनील आकाश को लिये हुये मुझे एक पुस्तक की समालोचना करने में लग जाना पड़ा है। इस पुस्तक को भी कोई न पढ़ेगा, इस समालोचना को भी कोई याद न रखेगा, बीच में ऐसा दिन मिट्टी में मिल जायगा। जीवन में ऐसे दिन कितने ही आते हैं। अधिकांश दिन ही टूटे-फूटे, जोड़ बनाये रहते हैं। आज का दिन नदी के ऊपर सुनहले कमल-फूल की तरह खिल उठा है; मेरे मन को अपने गर्भकोष के अन्दर खींच रहा है। और एक बात मन में आई है कि एक पीली करधनी पहने स्निग्ध बैगनी रंग का भौंरा मानो मेरे बोट के चारों तरफ गुञ्जन करता हुआ घूम रहा है। वसन्त काल में भ्रमर-

गुञ्जन से विरहिणी की विरहवेदना बढ़ती जाती है, इस उक्ति का मैं बराबर परिहास करता आया हूँ। किन्तु भ्रमर-गुञ्जन का मर्म मैंने एक दिन दोपहर को बोलपुर में पहले पहल आविष्कार किया था। उस दिन निकम्मे की तरह दक्षिण के बारामदे में मैं घूम रहा था—मध्याह्न मैदान में बिखरा पड़ा था, पेड़ों की घनी पत्तियों में स्तब्धता का मानो ढेर लग गया था। उसी समय बारामदे के पास एक मुकुलित नीम वृक्ष के पास भ्रमर का अलस गुञ्जन समूचे उदास मध्याह्न का एक सुर बाँधता जा रहा था। उसी दिन अच्छी तरह यह बात समझ में आ गयी कि मध्याह्न के समस्त पाँच मिलावट वाले श्रान्तसुर का मूल सुर है उसी भ्रमर का गुञ्जन—उसके कारण विरहिणी का मन हठात् हाहाकार कर उठेगा, इसमें आश्चर्य कुछ भी नहीं है। असल बात यह है कि, कमरे में यदि निरर्थक ही एक भ्रमर आ जाय और आने के साथ ही भों भों करना शुरू कर दे और प्रतिक्षण खिड़की के शीशे पर माथा पटकता रहे, तो उसके इस काम से उसके अपने ही माथे में व्यथा होने के सिवा और किसी को किसी तरह की व्यथा लगने की सम्भावना नहीं है। किन्तु ठीक जगह पर वह ठीक सुर ही देता है। आज के मेरे इस सुनहली मेखला पहनने वाले भौंरे ने ठीक सुर लगाया है। निश्चित ही मालूम होता है कि वह किसी ग्रन्थ की समालोचना नहीं कर रहा है—किन्तु किसलिये वह मेरे भाल के चारों तरफ गुनगुन करता हुआ घूम रहा है, मैं ठीक समझ नहीं सकता—निरपेक्ष विचारक मात्र ही यही कहेंगे कि मैं शकुन्तला या अन्य आदि का कोई नहीं हूँ।

१३७

सिलाईदह
२३ फरवरी १८९५

साधना के लिए लिखते-लिखते अन्यमनस्क हो जाता हूँ। नाव

चलने लगती है, मुँह ऊपर उठाकर देखने लगता हूँ। नावें लोगों को इस पार से उस पार ले जाती हैं और उस पार से इस पार ले आती हैं, यही देखते-देखते समय बीत जाता है। मेरी नाव के बिलकुल ही निकट धीमी चालवाले भैंसे अपने बड़े-बड़े मुँह तृण-लतादि में डालकर उन्हें झटके से इधर-उधर हिलाकर, फों फों शब्द के साथ साँस लेते हुए, कच् कच् आवाज करते करते खाते रहते हैं और खाते खाते ही पूँछ के झपेटे से पीठ की मक्खियों को खदेड़ते हुये चलते रहते हैं। उसके बाद एक अति दुर्बल बालक आकर इस शान्त स्वभाव के बहुत बड़े जानवर की पीठ पर पैने से कोंचकर हट हट शब्द करने लगता है। तब वह जानवर अपनी बड़ी बड़ी आँखों से एक बार इस दुबले-पतले मनुष्य पर कटाक्ष फेंक देता है, फिर रास्ते में दो-चार कौर घास नोंचकर खाने लगता है और शान्त चित्त से धीरे धीरे कुछ दूर चला जाता है। और वह लड़का समझता है कि मैंने चरवाहे का कर्तव्य पूरा कर डाला। चरवाही करने वाले लड़कों के मनस्तत्व का वह रहस्य मैं आज तक समझ नहीं सका। गाय बैल या भैंसे जहाँ अपनी इच्छा के अनुसार तृप्ति के साथ चरते रहते हैं, अकारण ही उत्पात कर उन्हें वहाँ से खदेड़कर कुछ दूर ले जाने से कौन उद्देश्य सिद्ध होता है, मैं ठीक नहीं जानता। पोस माननेवाले जानवरों पर अनावश्यक मालिक होने का गर्व अनुभव करना सम्भवतः मनुष्य का स्वभाव है। घनी सरस घास पत्तियों में भैंसे का चरना मुझे बहुत अच्छा लगता है। कौन बात कहने लगा था, और कौन बात उठ गई। मैं कहने जा रहा था कि, आजकल तीन साधारण कारण से ही मेरी साधना सम्बन्धी तपस्या भङ्ग हो रही है। इसके पहले एक पत्र में [illegible] हुआ है, कि इधर कई दिनों से कई छोटे बोट के [illegible] केवल मात्र से [illegible] गुञ्जन करते हुये निर्भीक आक्रमण करते हुए घूमते रहते हैं— प्रतिदिन ही दिन में [illegible] दिखाई [illegible] है। अकस्मात् एक बार

मेरे टेबिल के पास, डेस्क के नीचे, खिड़की के रंगीन शीशों के ऊपर मेरे माथे के चारों तरफ घूमते हुए फिर हुस् करके वे बाहर उड़ जाते हैं। मैं अनायास ही यह सोच सकता हूँ कि लोकान्तर से कोई अतृप्त प्रेतात्मा प्रतिदिन एक ही समय भ्रमर के आकार में आकर एक बार मुझे देख-सुनकर प्रदक्षिणा कर जाता है। किन्तु मैं ऐसा ख्याल नहीं करता, मेरा दृढ़ विश्वास है कि वह सच्चा भ्रमर है, मधुप है, संस्कृत भाषा में जिसे कभी-कभी द्विरेफ कहते हैं।

●

१३८

सिलाईदह

१६ फागुन १८९५

अपनी इस सुगम्भीर स्मरणातीत बाल्यकाल की उद्भ्रान्त कल्पनाओं की बातें याद पड़ रही हैं—खूब अधिक दिनों की बातें तो [illegible] नहीं मालूम होतीं—फिर भी इस बार के मानव-जन्म का आधा समय तो बीत ही गया। हमलोग प्रत्येक क्षण को रौंद रौंदकर अपने जीवन को पूर्ण बनाते हैं, किन्तु सब मिलाकर यह जीवन तो बहुत ही छोटा है। दो घंटे के निर्जन चिन्तन से समूचे जीवन को हम समझ सकते हैं। गेटी ने तीस वर्षों तक हजारों काम किये, हजारों यत्न किये और जीवन सार्थक करने की इस अवधि में आत्म-चरित के दो ग्रन्थ रच डाले। इसमें भी जर्मन भाषा की निरर्थक [illegible] भरी पड़ी है। मेरे जीवन के तीस वर्षों में भी मानस-पत्र का ग्रन्थ पूरा नहीं हुआ। यही तो [illegible] है, इतना ही तो काम है, किन्तु इसके ही लिए कितना आयोजन है, कितनी दुर्भावनाएँ हैं। इतनी ही रचना सुनाने के लिए कितने [illegible] हैं, कितने पत्र हैं, कितनी कर्मचारियाँ हैं, कितने आदमी-जन हैं। मैं तो इस टेढ़े हाथ की कुर्सी पर चुपचाप बैठा हुआ हूँ, किन्तु

कितने ही प्रकारों से पृथ्वी की कितनी जमीन ढँके हुए हैं। इन सभी को छोड़छाड़कर केवल दो घण्टे की चिन्ता रह जाती है, वह भी अधिक दिनों के लिए नहीं। आज मैं दोपहर को अकेले बोट में जाकर पड़ रहा। उस समय मेरे मन का जो भाव रहा, और यह एक दिन का आलस्य, इन्हीं इने-गिने पन्नों में कहाँ लुप्त हो रहेगा। इस तरंग-विहीन पद्मा तटवर्ती बालू की रेती का निर्जन मध्याह्न मेरे अनन्त अतीत और अनन्त भविष्य के अन्दर क्या कहीं भी एक अत्यन्त छोटी सुनहली रेखा का चिह्न छोड़ देगा।

१३६

शिलाइदह
२८ फरवरी १८९५

आज मुझे एक गुमनाम चिट्ठी मिली है, उसके आरम्भ में ही है—

"पर-पैरों पर पड़कर प्राण दान जो होता
वह है सब दानों का सार।"

लेखक ने मुझे कभी देखा नहीं है। 'साधना' में मेरे जो लेख छपते हैं, उनसे ही परिचय हुआ है। उसने लिखा है—'तुम्हारी साधना में रवि-किरणें पड़ गयी हैं, इसीलिए रवि उपासक जितने लोग हैं, चाहे वे जितने ही तुच्छ क्यों न हों, जितनी ही दूर क्यों न रहते हों, तो भी उनके लिए भी आज रवि की किरणें बिखर रही हैं। तुम हो जगत के कवि, तो भी वे लोग आज सोच रहे हैं कि तुम उनके ही कवि हो।' इत्यादि। मनुष्य [illegible] के लिए इतना [illegible] कि अन्त में वह [illegible] को प्यार करता रहता है। आइडिया को रियेलिटी की अपेक्षा [illegible] क्यों समझूँ। [illegible] द्वारा जो कुछ मिल रहा है, [illegible] उसका ही पता नहीं

मिलता, और आहुतियाँ देकर जिसे प्राप्त करता हूँ, उस मन की रचना की यथार्थ सत्ता के प्रति भी मैं क्यों उसकी अपेक्षा अधिक अविश्वास करने लगूँ। जितने मनुष्य हैं, सभी में एक आदर्श मनुष्य मौजूद है, उसके पास तक हम केवल भक्ति प्रीति और स्नेह के ही द्वारा कुछ हद तक पहुँच सकते हैं। प्रत्येक बालक में जो एक बृहत् आदर्श है, उसका अनुभव केवल लड़के की माँ समस्त मन-प्राण देकर करती है, दूसरे बालक में उस विशेषत्व को, जो अवर्णनीय रहता है, उसे वह देख नहीं सकती। माँ अपने लड़के को जो समझ कर प्राण देती है, वही क्या माया है और जो समझ कर हम नहीं दे सकते, वही क्या सत्य है? प्रत्येक मनुष्य ही अनन्त रत्नों का धन है, उसके भीतर सौंदर्य की सीमा नहीं है। किस बात से कौन बात उठ गयी। असल बात यह है कि एक हिसाब से मैं अपने भक्त का प्रीति-उपहार ग्रहण करने योग्य नहीं हूँ, अर्थात् यदि वह मुझे मेरे प्रतिदिन के आचरणों के बीच देख पाता तो उस हालत में वह ऐसी प्रीति का अनुभव कर ही नहीं पाता—और एक हिसाब से मैं भी उसी परिमाण में, यहाँ तक कि, इसकी अपेक्षा बहुत अधिक परिमाण में प्रीति पाने का अधिकारी हूँ।

●

१४०

सिलाईदह
६ मार्च १८९५

सौन्दर्य की चर्चा और सुविधा की चर्चा, इनमें से किसको प्रधानता देनी चाहिये यदि यही तर्क का विषय हो, तो छाता माथे पर ओढ़कर घोड़े पर चढ़ने का उदाहरण इस तर्क के अन्तर्गत ठीक नहीं पड़ता। क्योंकि घोड़े पर चढ़कर छाता ओढ़ने से वह अवश्य ही सुन्दर हो

जायगा यह कोई बात नहीं है, उधर घोड़ा चलाने में असुविधा भी हो सकती है। असल में वह असंगत है। असुविधा, असौन्दर्य और असंगति इन तीनों से ही हमें बचकर चलना चाहिये—किन्तु जान पड़ता है कि अन्तिम के ऊपर ही सबसे अधिक लक्ष्य रखना पड़ेगा। स्त्रियों की तरह साड़ी पहनने से यदि कोई पुरुष सुन्दर भी दिखाई पड़े, तो भी उस अद्भुत काम में न जाना ही अच्छा है। इस सम्बन्ध में जो लज्जा है वह स्वाभाविक लज्जा है। अपने आपको बहुत अधिक लोगों के सामने रखने में स्वभावतः ही संकोच होना उचित है, क्योंकि यथार्थ भद्रता का स्वभाव ही सलज्जता है। जैसे अपने सम्बन्ध में सर्वदा अत्यधिक सचेत न रहना कुछ भी नहीं है, वैसे ही दूसरों की चेतना पर अपने को प्रबल वेग से पटक देने में एक विशेष अप्रवृत्ति रहनी ही चाहिये। अवश्य ही इसकी एक सीमा है, किन्तु वह सीमा बहुत दूर है। जब किसी प्रचलित प्रथा को मैं अन्याय या अनिष्टकर समझता हूँ तब उस विषय में साधारण को आघात पहुँचाने में कुंठित होने से काम न चलेगा। किन्तु वहाँ ऊँचा लक्ष्य रहना चाहिये। हमारे देश में जिन स्त्रियों ने पहले जूते पहनना और छाता ओढ़ना शुरू किया था, अवश्य ही लोगों के व्यंग-बानों का सामना उन्हें करना पड़ा था। इसीलिए ऐसे स्थान में लोक-व्यवहार के प्रति रियायत करने से ही काम नहीं चलता। किन्तु मोटे तौर से साधारण मनुष्य की तरह चलने में सुविधा यह है कि, उसके कारण दूसरे लोगों को भी चलाने की सुविधा होती है, छोटी-मोटी सुविधा असुविधा के लिए भी यदि सर्वसाधारण के अभ्यास और संस्कारों के साथ विरोध करके चलना पड़े तो वह मच्छरों को मारने में तोपें तान रखने की ही तरह अद्भुत काम हो जाता है—उस अद्भुत असंगति में जो हास्य और विरक्तिजनकता है उसे अतिक्रम करने के लिए कोई उपयुक्त अभिप्राय उसके अन्तर्गत नहीं मिलता।

❁

शिलाईदह
६ अप्रैल १८९४

स्नान आहार करके दस बज गये । चैत महीने के दस बजे कम समय नहीं होता । धूप कड़ी हो उठी है, कौवे किस मतलब से इतनी पुकार मचा रहे हैं मैं नहीं जानता, नारङ्गी और कच्चा-मीठा आम बेचने वाला माथे पर टोकरी लिये ऊँचे स्वर से पुकार मचाता हुआ हमारी ड्योढ़ी के पास से चला जा रहा है ।

किसी ऐसे विदेश में जाने की इच्छा हो रही है—जो देश एक सुन्दर निभृत हो—जहाँ पहाड़ हों, झरना हो, पत्थरों के ऊपर खूब घने सेवार उगे हुए हों, दूर पहाड़ के ऊपर गायें चर रही हों, आकाश का नीला रङ्ग खूब स्निग्ध और खूब गाढ़ा हो । पक्षी पतङ्ग पल्लव और जलधारा का एक विचित्र मिलावटी शब्द उठकर मस्तिष्क में धीरे-धीरे तरङ्गाभिघात कर दे । इन बातों को छोड़िये, आज और किसी काम में हाथ न देकर खिड़की के आगे में अकेले आप पैर पसार कर कोई एक भ्रमण कहानी की पुस्तक पढ़ता रहूँ यही इच्छा हो रही है । बहुत सुन्दर फूल पत्तियों और चित्रों से परिपूर्ण पुस्तक ! आलोचना करने लायक, मन को उन्नत करने वाली पुस्तकें इस संसार में अनेक हैं, किन्तु आलस्य में समय बिताने लायक पुस्तकें बहुत कम हैं, ऐसी पुस्तकें लिखने में असाधारण शक्ति की आवश्यकता है । अवकाश के अवकाशत्व को जरा भी नष्ट न किया जाय, बल्कि उसे रङ्गीन और रसीला बना डाला जाय, साथ ही मन लगाकर पढ़ने की खुराक भी दे सके, इन सब सीमाओं को बचाकर लिखना कठिन है । स्टीलपेन से लिखा जाय, परन्तु मन के ऊपर दाग न पड़ सके, पंख की कलम से लिखा जाय और वह लेख मन के ऊपर से उड़ा ले जा सके, ऐसे पुष्पक रथ का सारथी कहाँ मिलता है ।

कलकत्ता
४ अप्रैल १८९५

देखते-देखते सारा आकाश बादलों से ढँक गया, गड़गड़ाहट भरी आवाज से बादलों का गरजना शुरू हो गया, और रह-रहकर प्रबल हवा के झकोरों से बगीचे के छोटे बड़े सभी पेड़ हुस्-हुस् करके निःश्वास छोड़ने लगे। मध्याह्न का समय स्निग्ध छाया से भर उठा, चारों तरफ अँधियारी छा गयी। मन का भीतरी भाग एक अकारण चञ्चलता से विक्षुब्ध हो उठा। उसके हाथ में जो भी काम मैं देने लगा, उसे ही वह फेंक देने लगा।

मन की दशा ठीक आकाश की दशा की तरह है—कुछ भी बताया नहीं जा सकता। महीने में उनतीस दिन वह छोटे-मोटे उपस्थित कामों में लगा रहकर अच्छी तरह समय बिता देता है, कोई गड़बड़ी नहीं मचाता। हठात् तीसवें दिन उन सब कामों पर वह पदाघात करने लगता है, कहता है—मुझे कोई एक ऐसा काम दो, जो खूब बड़ा हो, जो समस्त दिन-रातों को सभी भूत-भविष्यों को बिलकुल ही निगल सके। तब अपने हाथों के पास कहाँ क्या मिल सकता है—केवल इस कमरे से उस कमरे में, इस बरामदे से उस बरामदे में टहलता रहता हूँ। कुछ छिन्न-विच्छिन्न खण्ड-खण्ड नियमों से बँधे कामों में जब मन कूद-कूदकर घूमने-फिरने लगता है, तभी हम कहते हैं कि वह स्वस्थ अवस्था में है, और जब वह एक प्रबल आवेग से एक बृहत् काम में एक सहस्र निर्जीव एकता प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठता है तब हम उसे पागलपन कहते हैं। किन्तु मैं भी सोचता हूँ कि मनुष्य की असली स्वाभाविक अवस्था वही है, जो एक प्रबल लिप्सा में समस्त जीवन को एक बन्धन में आबद्ध करने की इच्छा! इसीलिए प्रति दिन समाज में रहकर किसी-किसी दिन मालूम होता है—मुझे बाँसुरी बजाकर कौन बुला रहा है।

१४३

शाहजादपुर

२८ जून १८९५

बैठा-बैठा साधना के लिए एक कहानी लिख रहा हूँ—आषाढ़ मासोपयोगी अच्छी कहानी। थोड़ा-थोड़ा लिख रहा हूँ और बाहर की प्रकृति की समस्त छाया, प्रकाश, वर्षाध्वनि मेरे लेख के साथ मिलते जा रहे हैं। जिन दृश्यों, मनुष्यों और घटनाओं की कल्पना कर रहा हूँ, उसके ही चारों तरफ यह धूप वर्षा, नदी-स्रोत और नदी तट का काश-वन, यह वर्षा का आकाश, यह छाया से घिरा हुआ गाँव, ये जलधारा से प्रफुल्ल लहलहाते हुए खेत घेर कर खड़े हैं और उन्हें सत्य और सौन्दर्य से सजीव बना रहे हैं। किन्तु पाठकों को इसमें से आधी चीजें भी न मिलेंगी, वे केवल कटी हुई फसलों को ही पाते हैं, किन्तु शस्य के खेतों का आकाश, हवा, शिशिर और श्यामलता सब कुछ ही छूट जाते हैं। अपनी कहानी के साथ यदि इस बादलविहीन वर्षाकाल की कोमल धूप से चमकती हुई छोटी नदी के तट को, पेड़ों की इस छाया और गाँव की शान्ति को ऐसे ही अनायास रूप से मिला देता तो उस हालत में सभी उसके सत्य को बिलकुल ही सहज भाव से एक ही क्षण में समझ जाते। बहुत कुछ इस मन में ही रह जाता है, सब पाठक को नहीं दिया जाता। जो अपने पास है उसे भी दूसरों को देने की शक्ति विधाता ने मनुष्य को पूर्णता से नहीं दी है।



१४४

शाहजादपुर

२ जुलाई १८९५

काम करते-करते किसी एक तरफ मुँह घुमाते ही देख पाता हूँ कि

नीले आकाश के साथ मिली हुई हरी-भरी पृथ्वी का एक अंश बिल-कुल ही हमारे मकान के पास हाजिर है—मानो प्रकृति सुन्दरी कुतूहली देहाती लड़की की तरह मेरे दरवाजे और खिड़कियों के पास झाँक रही है। मेरे मकान के, मेरे काम के और अवसरों के चारों तरफ नवीन और सुन्दर बना हुआ है। इस वर्षा से, मुक्त आकाश से, प्रकाश से इस गाँव और जल की रेखा, इस पार और उस पार खुला मैदान और टूटा-फूटा रास्ता एक स्वर्गीय कविता से एपोलो देव की स्वर्ण वीणा ध्वनि से गुञ्जरित हो रहे हैं। मैं आकाश और प्रकाश को बहुत ही हृदय के साथ प्यार करता हूँ। आकाश मेरा साकी है नीले स्फटिक की स्वच्छ प्याली उसने औंधी रख दी है—सोने का प्रकाश मदिरा की तरह मेरे रक्त के साथ मिलकर मुझे देवताओं के समान बना रहा है। जहाँ मेरे इस साकी का चेहरा प्रसन्न और उन्मुक्त है, जहाँ मेरी यह सोने की मदिरा सर्वापेक्षा सुनहरी और स्वच्छ है, वहाँ ही मैं कवि हूँ, वहाँ ही मैं राजा हूँ। वहाँ ही मेरे साथ बराबर उस सुनील निर्मल ज्योतिर्मय असीमता का ऐसा प्रत्यक्ष निकट योग बना रहेगा।

●

१४५

पबना के मार्ग में

६ जुलाई १८९५

इस टेढ़ी-मेढ़ी इच्छामती नदी से मैं जा रहा हूँ। यह है छोटी मन-मौजी बरसाती नदी—इसके दोनों किनारे हरे ढालू घाट हैं, बड़े घने काश-वन हैं, पटुए के खेत हैं, ईख के खेत हैं और कतार के कतार गाँव हैं—यह मानो एक ही कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं, मैं बार-बार आवृत्ति करता जाता हूँ और बार-बार ही अच्छी लगती हैं। पद्मा की तरह बड़ी नदी इतनी बड़ी होती है कि उसे ठीक आयत्त नहीं किया

जा सकता, और यह वर्षा के दो-चार महीनों की, इने-गिने अक्षरों वाली छोटी टेढ़ी नदी, मानो विशेषरूप से मेरी बनती जा रही है।

पद्मा नदी के पास मनुष्यों के मकान तुच्छ हैं, किन्तु इच्छामती मनुष्यों से मेल रखने वाली नदी है। उसके शान्त जल-प्रवाह के साथ मनुष्यों के कर्म-प्रवाह का स्रोत मिलता जा रहा है। यह लड़कों के लिए मछली पकड़ने और स्त्रियों के लिए स्नान करने की नदी है। स्नान करते समय स्त्रियाँ जो सब बातें, गल्प आदि करती हैं वे सब इस नदी की हास्यमय मधुरध्वनि के साथ एक सुर में मिल जाते हैं। आश्विन मास में मेनका के घर की पार्वती जिस तरह कैलास-शिखर छोड़कर, एक बार अपने पिता का मकान देख-सुन जाती हैं, इच्छामती उसी तरह सारा वर्ष दर्शन से बाहर रहकर वर्षा के इने-गिने महीनों में आनन्द-गान करते-करते अपने आत्मीय-स्वजनों के मकानों का समाचार मालूम करती चली आती है। उसके बाद घाट-घाट पर स्त्रियाँ उसके मुँह से अनेक गाँवों के [illegible] समाचार सुनकर उनके साथ मेल-जोल बढ़ा फिर लौट जाती हैं।

सन्ध्या हो गयी है। आकाश में बादलों से अँधेरा छाया हुआ है। बादल गरज रहे हैं और तूफ़ानी हवा से गहरी जंगली झाऊ हिल उठते हैं। नेत्रारियों में गाढ़ी स्याही की तरह अँधेरा छाया हुआ है और जल के ऊपर गोधूलि का एक बदरंग धूसर प्रकाश पकड़कर एक अस्वाभाविक उजेले की तरह दिखाई पड़ रहा है। मैं धीमे प्रकाश में कागज पर झुककर चिट्ठी लिख रहा हूँ। अनुकूल हवा टेबिल के सारे कागज-पत्र बिखेर देने की चेष्टा कर रही है। छोटी नदी पर घन-घोर वर्षा के समारोह में एक चिट्ठी लिखने की इच्छा हो रही है, बादलों से भरी गोधूलि बेला में, एकान्त कमरे में मृदु-मन्द स्वर से बातें करने लायक चिट्ठी! किन्तु यह एक इच्छामात्र है। मन की ऐसी सहज इच्छाएँ ही वास्तविक दुस्साध्य हैं। वे या तो आप ही पूरी हो जाती हैं,

या किसी तरह भी पूरी नहीं होतीं। इसी कारण अधिकांश समय में युद्ध को जमा देना सहज है, गल्प जमा देना सहज नहीं है।



१४६

सिलाईदह

१४ अगस्त १८९५

जितने ही प्रकार के काम अपने हाथ में लेने लगा हूँ, उतनी ही अधिक श्रद्धा मेरे हृदय में बढ़ती जा रही है। काम अत्यन्त उत्कृष्ट पदार्थ है यह मैं अब तक पोथियों के उपदेशों से ही जानता था। अब जीवन में ही अनुभव करने लगा हूँ कि, कामों में ही पुरुष की यथार्थ चरितार्थता है। कामों के ही सहारे वस्तुओं को पहचानता हूँ आमने सामने परिचय हो जाता है। देश-देशान्तर के लोग जहाँ बहुत दूर से आकर संमिलित हुए हैं, वहीं ही आज मैं उतर पड़ा हूँ। मनुष्य के परस्पर शृङ्खलाबद्ध इस प्रयोजन को, कर्मों की इस बहुत दूर तक फैली हुई उदारता को मैंने प्रत्यक्ष रूप से देख लिया है। काम का एक माहात्म्य यह है कि, काम के निमित्त [illegible] सुख दुःख की भावना [illegible] मर्यादित [illegible] बनाकर चलना पड़ता है। मुझे याद है, जब मैं शाहजादपुर था तब एक दिन वहाँ का खानसामा सबेरे देर करके आया था, इसलिये मैंने उस पर क्रोध प्रकट किया था। उसने आकर अपना नित्य नियमित सलाम करके जरा रुँधे स्वर से कहा—'कल रात को मेरी आठ वर्ष की लड़की मर गयी।' यह कहकर [illegible] लेकर वह मेरा बिछौना [illegible] लगा। कठिन कर्म क्षेत्र में व्यक्तिगत शोक के लिये भी अवसर नहीं है। [illegible] भी गया पड़ा है। [illegible] मनुष्य को [illegible] के बन्धन से

मुक्त कर सामने के मार्ग में प्रवाहित करके ले जा सके, तो अच्छा ही समझना चाहिये। जो न होने योग्य है वह तो हो गया, जो हो सकता है वह हाथ के सामने तैयार है। जो लड़की मर गयी उसके लिए शोक के सिवा और कुछ भी नहीं किया जा सकता, जो लड़का जीवित है है उसके लिये छोटे-बड़े सभी काम प्रतीक्षा कर रहे हैं। कामों की दुनियाँ की ओर नजर उठाकर देखता हूँ तो—कोई नौकरी करता है, कोई व्यवसाय कर रहा है, कोई खेत जोत रहा है, कोई मजदूरी कर रहा है, फिर भी इस बहुत बड़े कार्यक्षेत्र के ठीक नीचे से ही प्रतिदिन कितनी मृत्युएँ हो रही हैं, कितने दुःख छिपे तौर से चले जा रहे हैं, उस कर्म की प्रतिष्ठा को नष्ट नहीं होने देते—यदि वे असंयत होकर बाहर निकल पड़ते तो उस हालत में कर्मचक्र बिलकुल ही बन्द हो जाता। व्यक्तिगत सुख-दुःख नीचे ही से ही दौड़ते हैं, और ऊपर अत्यन्त कठिन पत्थर का पुल बँधा रहता है। उस पुल के ऊपर से लाख यात्रियों से भरी कार्य की गाड़ी अपने लोहे के मार्ग से हुहु शब्द करती हुई चली जाती है, निर्दिष्ट स्टेशन के अतिरिक्त और कहीं भी वह किसी के लिये एक क्षण के लिए भी नहीं रुकती। कार्य की इस निष्ठुरता में मनुष्य की कठोर सान्त्वना है।

तीन नये ऐतिहासिक उपन्यास

नादिरशाह

फारस का लाल बादल, जिसे सिर्फ लहू बरसाना आता था। जिस रास्ते निकल जाता, वहीं राख के ढेर और खून के दरिया नजर आने लगते। दुनिया के बादशाहों में भले ही उसकी गिनती न हो, पर शब्द-कोश में एक नया शब्द दे गया—नादिरशाही!

इतिहास के अत्यन्त खूँख्वार व्यक्ति का अद्भुत, रोंगटे खड़े कर देने वाला मनोवैज्ञानिक चित्रण। दिल्ली का कत्लेआम, मुहम्मदशाह रँगीला, सैय्यद बन्धु, आदि का सजीव चित्रण। इतिहास के प्रामाणिक तथ्यों पर आधारित हिन्दी का पहिला श्रेष्ठ उपन्यास। लेखक—श्री गोविन्द-सिंह। मूल्य पाँच रुपया।

टीपू सुल्तान

स्वातन्त्र्य युद्ध का एक वीर सेनानी जिसने अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये, जिसने देश के लिए स्वयं तथा अपने परिवार को स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर स्वाहा कर दिया। जिसके नाम से शत्रु काँपते थे। भारतमाता का सच्चा सेवक, स्वतन्त्रता का पुजारी एवं त्याग की प्रतिमूर्ति, "टीपू सुल्तान" भारतीय इतिहास का उज्ज्वल रत्न है। लेखक—महेशकुमार शर्मा। मूल्य—चार रुपया।

बाजीराव मस्तानी

हमारे ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा में नवीन कीर्तिमान। मराठा-मुगल-काल की आग भरी कहानी, जिसने भारतीय इतिहास को ऐसी मोड़ दी थी, जिसमें हिन्दुत्व-शौर्य, देशाभिमान, बलिदान की गौरवमयी गाथाएँ मदान्धों के लिये [illegible] हो उठीं।

पेशवा बाजीराव और उनकी प्रेयसी मस्तानी की ऐतिहासिक प्रेम कथा को, लोकप्रिय कलाकार लेखक ने, अपनी चमत्कारपूर्ण भाषा-शैली में अत्यन्त मोहक रूप में प्रस्तुत किया है। पृष्ठ संख्या ३००

मनोभिराम तिरङ्गा आवरण  मूल्य—साढ़े चार रुपये